ओ३म्

शतपथ में

एक पथ

बुद्धदेव
विद्यालङ्कार

शतपथ में एक पथ

लेखक—
बुद्धदेव विद्यालङ्कार

प्रकाशक—
मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल काङ्गड़ी

मिलने का पता—
मंत्री आर्य्य प्रतिनिधि सभा
गुरुदत्त भवन
लाहौर।

प्रथम वार १०००
फाल्गुण १९८६ वि०
मूल्य ।)

प्रकाशक—

मुख्याधिष्ठाता

गुरुकुल, काङ्गड़ी ।

मुद्रित—

विरजानन्द प्रैस

मोहनलाल रोड, लाहौर ।
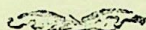
* ओ३म् *

दो शब्द

शतपथ ब्राह्मण को यद्यपि ऋषि दयानन्द ने वेद के समान स्वतः प्रमाण नहीं माना किन्तु तो भी उन्होंने वेद भाष्य में अनेक स्थलों पर उसे प्रमाणरूपेण उपन्यस्त किया है तथा यजुर्वेद के व्याख्यानों में वह इसे एक मुख्य प्रमाण समझते थे। ऋग्वेदादि भाष्यभमिका में भी उन्होंने शतपथादि के अनुसार भाष्य करने की प्रतिज्ञा की है। इससे इस ग्रन्थ का गौरव स्पष्ट है।

इतना गौरव होते हुए भी यह ग्रन्थ अब तक एक जटिल समस्या समझा जाता रहा है, पिछले १२ वर्षों के यथावकाश अध्ययन ने मुझे निश्चय दिला दिया है कि इस ग्रन्थ रत्न के साथ घोर अन्याय हुआ है। मेरी इच्छा अपने जीवन में इस ग्रन्थ का भाष्य कर देने की है। इसी उद्देश्य से मैं अपना जीवन इस ग्रन्थ के अर्पण कर चुका हूँ।

गुरुकुल के आचार्य जी ने मेरा उत्साह बढ़ाने

के लिये निमन्त्रित किया था. उसी प्रसङ्ग में यह चार व्याख्यान दिये गए थे। इनका क्या मूल्य है. यह अब विद्वानों की समालोचना की आंच लगने से ही पता लगेगा, कहने वाले कह गए हैं।

हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा।

जब इस छोटी पुस्तक के छपवाने की अनुज्ञा मुझे आचार्य्य जी से प्राप्त हुई उस समय गुरुकुलोत्सव में थोड़े ही दिन शेष रह गए थे और मुझे पुस्ततक का तब तक प्रकाशित कर देना अभीष्ट था। इस लिये अति शीघ्रता वश जो दोष रह गए हों उनके लिये पाठकों के आगे प्रणामाञ्जलि बांधने के सिवाय मेरे पास क्या गति है इस लिये उस क्षमा याचना के साथ इस प्रस्तावना को समाप्त करता हूँ।

मोहनलाल रोड लाहौर
२४ फाल्गुन १९८६

बुद्धदेव

विषय सूची

संख्या	विषय	पृष्ठ

ग्रन्थ कर्त्ता कौन है।

सब से पहला प्रश्न उठता है कि इस ग्रन्थ का कर्ता कौन है? इस के विषय में मेरी धारणा यह है कि इसके कर्ता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। किन्तु यहाँ कर्ता शब्द मैंने एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया है। यथार्थ रूपेण इस ग्रन्थके उपज्ञाता याज्ञवल्क्य हैं, और उपनिबन्धक उनका कोई अज्ञात नामा शिष्य है। अर्थात् विचार याज्ञवल्क्य के हैं और उनको ग्रन्थ रूप में परिणत करने वाला उनका कोई शिष्य है। स्वयं याज्ञवल्क्य इसके कर्ता नहीं हैं यह इस प्रकार ज्ञात होता है कि इसमें उनके विषय की अनेक कथाओं का इस प्रकार वर्णन है जैसा कोई मनुष्य अपने लिये नहीं कर सकता। जैसे—

स हैनम् पप्रच्छ त्वं नु खलु याज्ञवाल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसीइति सहोवाच नमोवयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्म्मो गोकामा एव वयं स्म का, १४, अध्याय ६, ब्राह्मण ६, कण्डिका ४,

महाराज जनक ने एक बार सहस्त्र गाय ब्रह्मविद्या के सर्व्वश्रेष्ठ विद्वान् को देने की घोषणा की इस पर याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी को आज्ञा दी कि इन्हें हांक लो। इस पर अश्वल पूछ उठे क्या याज्ञवल्क्य तू हम सब से ब्रह्मिष्ठ है? याज्ञवल्क्य बोले ब्रह्मिष्ठ को तो मैं प्रणाम करता हूं, हां गौवों की इच्छा

था इस लिये हांक ली। किन्तु साथ ही इस में विचार याज्ञ-वाल्क्य के ही हैं इसमें प्रमाण यह है कि इस ग्रन्थ में स्थान स्थान पर याज्ञवल्क्य के वाक्यों को प्रमाण रूपेण उपन्यस्त किया गया है। जहां विवाद उपस्थित हुआ है वहां सिद्धान्त पक्ष याज्ञवल्क्य के नाम से उपस्थित किया जाता है। यहां तक ही नहीं कहीं कहीं तो याज्ञवल्क्य के अधूरे विचार भी पवित्र समझ कर उल्लिखित कर दिये गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि "तदुहोवाच याज्ञवल्क्यः" इत्यादि वाक्यों में उत्तम पुरुष का परित्याग करके प्रथम पुरुष और परोक्षभूत वाचक लिट् लकार के आश्रय लेने से याज्ञवल्क्य इन विचारों के लिये ऊत्तरदाता तथा उनका कोई परम्परागत सम्प्रदायाधिकारी शिष्य ग्रन्थ के इस रूप के लिए उत्तरदाता है। वह शिष्य कौन है यह बात उस शिष्य की प्रगाढ़ गुरुभक्ति के प्रवाह में विलीन होगई है। इस गुरुभक्ति को प्रणाम है।

अब जिन जिन स्थलों पर इस प्रकार के वाक्य आये हैं, उनकी शृंखला आपके सामने उपस्थित करते हैं। पहिले वे स्थल लीजिये जहां महर्षि याज्ञवाल्क्य के वाक्यों को प्रमाण प्रमाण रूपेण उपन्यस्त किया गया है।

(१) "तदु होवाचयाज्ञवल्क्यः यदिनाश्नाति पितृदेवत्यो भवति यद्यु अश्नाति देवानत्यश्नातीति स यदेव अशितमनशितं तदश्नीयात् ॥ काण्ड १, अध्याय १, ब्रा, १, कण्डिका ६,

यहां यह प्रकरण उठा हैं कि यज्ञ में व्रतोपायन के दिन सर्वथा भोजन न करे अथवा किसी विशेष प्रकार का भोजन न करे।

"सो याज्ञवक्य बोले कि यदि सर्वथा भोजन न करे तो सर्वथा क्षीण होजायेगा और यदि भोजन करे तो देवों का अपमान करके भोजन खाना होगा, सो इस लिये जो चीज खाने पर भी न खाने के बराबर हो वह खा लेनी चाहिये।"

तदु होवाचयाज्ञवल्क्यः ययादिष्टं पत्न्या अस्तु कस्तदाद्रियेत यत् परः पुंसः वा पत्नी स्यात्....... तस्मादन्तर्वेद्येवासादयेत् ॥ का. १. अध्याय ३. ब्रा. ४. कण्डिका २१.

यहां प्रश्न उठा है कि घृत वेदी में रखना अथवा वेदी से बाहर ?

"सो याज्ञवल्क्य बोले यह कौन पसन्द करेगा कि पत्नी पति से वियुक्त हो इस लिये वेदीके अन्दर ही रखना चाहिये।"

फिर आगे कहते हैं—

अथार्कमवेक्षते तद्धैके यजमान मवख्यापयन्ति तदु होवाच याज्ञवल्क्यः कथं नु न स्वयमध्वर्यवो भवन्ति''''तस्मादध्वर्युरेवावेक्षेत। का. १. अ. ३. ब्रा. ३. २६ कण्डिका.

इसके पीछे अब घृत को देखता है। सो इस विषय में कई लोग कहते हैं कि घृत दर्शन विधि यजमान से करानी चाहिये। इस पर याज्ञवल्क्य बोले कि भला वे लोग स्वयं ही क्यों अध्वर्यु नहीं बन जाते······इस लिये अध्वर्यु ही घृत दर्शन करे।"

यहां सिद्धान्त पक्ष याज्ञवल्क्य के नाम से दिया गया है।

"स यत्र देवानां पत्नीर्यजति तत् पुरस्तात् तिरः करोति। उप हवै तावद्देवता आसते यावन्न-समिष्ट यजुर्जुहति इदं नुनो जुह्वतीति। ताभ्यए-वैतत् तिरः करोति। तस्मादिमाः मानुष्यः स्त्रियः तिर इवैवपुरुषो जिघत्सन्ति। या इव तु ता इवेति ह स्माह याज्ञवल्क्यः" का. १. अ. ६. ब्रा. ३. १२ कण्डिका.

"सो यहां पर देव पत्नियों के नाम का यज्ञ किया जाता है वहां सामने पर्दा कर दिया जा है, क्योंकि जब तक समिष्ट यजुः की आहुति नहीं कर दी जाती तब तक इस आशा में कि हमारे नाम की आहुति मिलेगी सब देव लोग वही पर बैठे रहते हैं इस लिये पर्दा कर दिया जाता है। इसीलिये साधारण स्त्रियें भी पुरुषों से पर्दा सा करके भोजन करती हैं और जिन की तरह वे हैं, (जिन देव स्त्रियों के समान वे मनुष्य स्त्रियें हैं) ऐसा याज्ञकक्क्य ने कहा है। यहां याज्ञवल्क्य का वाक्य प्रमाण रूप से दिया गया है।

"स उदीक्षते स्वयंभूरसि श्रेष्ठोरश्मिरिति एष वै श्रेष्ठोरश्मिः यत् सूर्यः। तस्मादाह स्वयम्भूरसि श्रेष्ठोरश्मिरिति वर्चोदा असि मर्चो मे देहीतित्वेवाहं ब्रवीमीति हस्माह याज्ञवल्क्यः तद्ध्येव ब्राह्मणेनैष्टव्यम् यद् ब्रह्मवर्चसी स्यात्।" का. १ अ. ६ ब्रा. ४ क. १६।

उदीक्षण विधि में प्रचलित पद्धति यह है कि 'स्वयम्भूरसिं श्रेष्ठोरश्मि' ऐसा कहकर सूर्य दर्शन करे श्रेष्ठ रश्मि यही सूर्य है इसी लिये कहा जाता है कि स्वयम्भूरसि श्रेष्ठोरश्मिः। इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मैं तो 'वर्चो असि वर्चो में देहि' यही कहता हूं और जो ब्रह्मण ब्रह्मवर्चसी होना चाहें उसे ऐसा ही करना चाहिये। यहां भी पूर्वाचार्यों की पद्धति से उत्कृष्टतर स्थान याज्ञवल्क्य सम्मत वाक्य को दिया गया है। इससे यह भी पता लगता है कि दर्शपूर्णमास की कोई पद्धति याज्ञवल्क्य से पहिले भी प्रचलित थी जिसे बहुत अंशों में याज्ञवल्क्य ने भी स्वोकार कर लिया। किन्तु इस ग्रन्थ में दशपौर्णमास का याज्ञवल्क्य सम्मत रूप ही दिया गया है।

"तदुहोवाच याज्ञवक्ल्यः नवै यज्ञइव मन्तवै पाक यज्ञ इव वा इति" का० २. अ. ब्रा० ३ कण्डिका २५.

"तदुहोवाच याज्ञवल्क्य २ का. अ. ४ ब्रा. ५ कण्डिका २ इस पर याज्ञवल्क्य बोले" ऐसा कह कर यहां ऐन्द्राग्न द्वादश कपाल पुरोडाश की मूलभूत कथा दी गई है। यहां याज्ञवल्क्य फिर प्रमाण रूप से याद किये गये हैं।

"तदु होवाच याज्ञवाल्क्यः वार्ष्ण्याय देव-यजनं जोषयितुमैम। तत् सात्ययज्ञोऽब्रवीत्, सर्वा वा इयं पृथिवी देव यजनं यत्र वां, अस्यै क्वच यजुषैव परिगृह्य याजयेदिति" का० ३ अ० ब्रा० ५ कण्डिका ४.

"इस पर याज्ञवल्क्य बोले "कि वार्ष्णर्य के यहां देवयजन बनवाने गये थे। वहां सात्ययज्ञ बोले कि सारी ही पृथिवी देवयजन है। यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा जहां चाहे वेदि निर्माण कराकर जहां चाहे यज्ञ कराये।" यहां यह बात ध्यान देने योग्य है सात्ययज्ञ आचार्य का मत भी इसलिये दिया गया कि याज्ञवल्क्य ने उसे मान लिया है। तृतीय काण्ड में यह विचार चला है कि वपाभिघारण पहिले करना चाहिये अथवा पृषदाज्याभिघारण। चरक शाखा के अध्वर्यु पहिले पृषदाज्याभिघारण करतेथे।

"तदुह याज्ञवल्क्यं चरकाध्वर्युः अनुव्याज-हार एवं कुर्वन्तं प्राणं वा अयमन्तर्गादध्वर्युः प्राण

एनं ह्रास्यतीति । स हस्म बाहूअन्वेद्याह इमौपलितौ बाहू कस्विद् ब्राह्मणस्य वचोबभूवेति न तदाद्रियेत ।

का० ३. अ० ८ ब्रा० ३ कण्डिका २४. २५.

जिस समय याज्ञवाल्क्य वपाभिघारण करके पीछे पृषदाज्य का अभिघारण करने लगे तब उन्हें ऐसा करते देख चरकाध्वर्यु बोले इसने पृषदाज्य रूप प्राण का अपमान किया है प्राण इसे छोड़ जायेगा । इस पर अपनी भुजाओं पर नज़र डालते हुए याज्ञवल्क्य बोले इन भुजाओं पर यह काम करते २ झुर्रियां भी पड़ गईं इन ब्राह्मण देवता का बचन इतने दिन कहां छिपा रहा" यहां देखना चाहिये कि याज्ञवल्क्य की कथा किस गौरव के साथ दी गई है।

'अपि होवाच याज्ञवल्क्यः नो स्विद्देवताभ्य एव गृह्णीयामा ३ विजित रूपमिव हीदमिति । तद्ध-स तन्मींमांसामेव चक्रे नेत्तुचकार ।" का० ४. अ० २ ब्रा० १ कण्डिका ७

यहां शण्ड मर्क नाम के दो असुरों के नाम से जो दो सोमग्रह लिये जाते हैं उनके विषय में याज्ञवल्क्य का विचार लिखते हैं कि वह सोचते थे कि शण्डमर्क असुरों के नाम पर ग्रह क्यों लिये जांय । देवताओं के नाम पर ही क्यों न लूं। परन्तु याज्ञवल्क्य अभी ऐसा विचार ही कर रहे थे। उन्हों ने (ऐसा सिद्धान्त स्थिर कर के) कहीं ऐसा यज्ञ नहीं किया। इस लिये यथा पूर्व ही करना चाहिये ।"

देखना चाहिये कि ग्रन्थ के उपनिबन्धक को याज्ञवल्क्य के लिये कितनी आदर बुद्धि थी। उसने उनके मन में उठती हुई विचार तरंगों का भी वर्णन कर दिया है।

उदव सानीय विधि के विषय में लिखते हैं—**अथोहैन यांप्यभिचरेत एतया वै भद्रसेनं आजात शत्रवं आरुणिः अभिचचार। क्षिप्रं किलास्तृणुतेति स्माह याज्ञवल्क्यः॥ का० ५ अ० ब्र ७. क० १४.**

अभिचार यज्ञ भी इसी के द्वारा करे आरुणि आचार्य ने इसी द्वारा अजात शत्रु के पुत्र भद्रसेन के प्रति अभिचार किया जिस में याज्ञवल्क्य बोले उसे जल्दी नष्ट करो।

विवाद उठा है कि आहुति के पीछे अवदान करो या अवदान के पीछे आहुति।

"तदुहोवाच याज्ञवल्क्यः यद्वा उपस्तीर्य अवदाय अभिघारयति तदेवैनाः सन्तर्पयति।" का० ११ अ० ४, ब्रा० ८ कण्डिका १७

"याज्ञवल्क्य इस विषय में निर्णय देते हैं कि "यह सम्पूर्ण विवाद ही निष्प्रयोजन है। "अवदान करते समय उस में जो घृत मिलाया जाता है उस से दोनों उद्देश्य एक में ही सिद्ध हो जाते हैं, अर्थात् अवदान की आहुति तथा उसका सन्तपर्ण भी।

यदि अग्निहोत्री गाय दोहन काल में नीचे बैठ जाय तो क्या करना चाहिये—

"तदु होवाच याज्ञवल्क्यः..........दंडेनेवैनां विपिष्योत्थापयेत्–" का० १२ अ० ४ ब्रा० ३

"याज्ञवल्क्य कहते है कि उसे डण्डा मार कर उठा दें।"

"तस्मादिद मर्धवृगलमिव स्वइति हस्माह याज्ञवल्क्यः।"

का. १४ अ. ४ ब्रा. २ क. ५

" इसलिये स्त्री के बिना पुरुष और पुरुष के बिना स्त्री अपूर्ण है। ऐसा याज्ञवल्क्य का मत है। "

" अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्येबभूवतु" का १४ अ. ४. ब्रा. २१-

यह प्रसिद्ध उपाख्यान है जिसमें कात्यायनी और मैत्रेयी नाम की दो अपने ऊपर आश्रित स्त्रियों के साथ याज्ञवल्क्य के उस सम्वाद का वर्णन हैं जब कि वे संन्यास लेने लगे थे।

तानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते । का. १४ अ. ७ ब्रा. १३ क. ३३।

ग्रन्थ की समाप्ति पर उपदेश की वंश परम्परा देते हुए अन्त में लिखा है कि उन शुक्ल यजुर्वाक्यों का वाजसनेय याज्ञवल्क्य आख्यान करते हैं।"

अब यदि यहां आख्यान का तात्पर्य व्याख्यान ले लिया जाय जैसा कि आगे प्रमाणों से सिद्ध भी कर दिया जायगा और जैसा कि अब तक वर्णित प्रमाणों से सिद्ध होता है तो हमारी स्थापना के सिद्ध होने में कोई सन्देह ही नहीं रहता कि इस ग्रन्थ के उपज्ञाता याज्ञवल्क्य हैं।

—+—

ब्राह्मण वेद हैं अथवा वेद व्याख्यान ?

ब्राह्मण वेद हैं अथवा वेद व्याख्यान, पौरुषेय हैं अथवा अपौरुषेय यह विषय चिरकाल से आर्य्य तथा पौराणिक विद्वानों के बीच में विवाद का क्षेत्र बना रहा है। इस विषय पर "दयानन्दतिमिरभास्कर" में पं० तुलसीराम जी ने तथा **'भारत सुदशा प्रवर्त्तक'** में पं० भीमसेन जी (जो कि पीछे से पौराणिक हो गये थे) ने बहुत विस्तार से विवेचन किया है। परन्तु उनके विवेचन का आधार बहुधा **"छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि"** आदि पाणिनीय सूत्र ही रहे हैं। मैं आज इस विषय पर केवल शतपथ के आधार पर कुछ कहना चाहता हूं। शतपथ के पारायण के पश्चात् यदि कोई कहे कि यह ग्रन्थ अपौरुषेय है तथा वेद-व्याख्यान नहीं तो उसके इस कथनको दुस्साहस की चरम सीमा ही समझना चाहिए। इस ग्रन्थ के अध्ययन से पता लगता है कि इसमें न केवल अन्य यज्ञपद्धतिकारों के प्रमाण ही दिये गए हैं, प्रत्युत अनेक स्थलों पर **'तदुहैके'** इत्यादि शब्दों से प्रतिवादियों का पक्ष उपन्यस्त करके उसका निरास भी किया गया है। एक स्थान पर **'पुरा'** और **'एतर्हि'** कह कर प्राचीन और आत्म-समकालीन पद्धतियों का भेद भी दर्शाया गया है। एक स्थान पर तो **'आरुणि'** का नाम लेकर स्पष्ट ही कहा है कि **'कौ-**

षिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाण' यह वाक्य सोम याग में आरुणि ने अभी बिलकुल थोड़े दिन हुए प्रचलित किया है। यदि कोई चाहे तो इसे न भी बोले।

'शश्वद्धै तदारुणिना अधुनोपज्ञातं यद् गौतम ब्रुवाणेति। सयदि कामयेत ब्रूयादेतत्। यद्यु कामयेत अपि नाद्रियेत'। का. ३ अ. ३ ब्रा. १ का १६

यहां **'उपज्ञात'** और **'अधुना'** ये दो शब्द बहुत ध्यान देते योग्य हैं।

इन सब प्रमाणों के रहते तथा पिछले लेख में मैंने जो सम्बन्ध याज्ञवल्क्य का इस ग्रन्थ के साथ बताया है उसकी उपस्थिति में इस ग्रन्थ को अपौरुषेय कहना पण्डित पुङ्गवों का ही साहस हो सकता है। मेरे जैसे अल्पशक्ति लोग तो ऐसी स्थापना करते हुवे कांपते हैं।

कई लोगों ने **'श्रुति सामान्य मात्रम्'** इस मीमांसा सूत्र के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि **,बर्कुर्वाष्णः आषाढः सावयसः'** आदि जो अपत्य प्रत्ययान्त शब्द इस ग्रन्थ में मिलते हैं—वे **'बबरः प्रावाहाणिरकामयत'** आदि वाक्यों की तरह आलंकारिक हैं। परन्तु इन सज्जनों ने मीमांसासूत्र का तात्पर्य नहीं समझा। मीमांसा सूत्र का तात्पर्य यह है कि वैदिक वाक्यों अथवा ब्राह्मण वाक्यों में केवल अपत्य प्रत्ययान्त देख कर यह न समझ लेना कि यह

किसी व्यक्ति विशेष का नाम है। परन्तु हमने जो उपर्युक्त शब्दों को अपत्य प्रत्ययान्त माना है वह इस लिये कि उनमें आलङ्कारिकत्व का कोई चिन्ह नहीं। शतपथ में जब कोई आलङ्कारिक गाथा आती है तो या तो ग्रन्थकार स्वयं स्पष्ट कर देते हैं कि यह अपत्य प्रत्ययान्त नहीं हैं। जैसे पृष्ठ ६२ पर

एष एव नडो नैषधः यदन्वाहार्य पचनः, अथ य एव सभायामग्निः। एष एवानश्नन्त्साङ्गमनः', का. २ अ. ३ ब्रा. ४ क २. ३३.

अथवा वे स्पष्ट कह देते हैं कि यह रूपक है। जैसे पृष्ठ ६ पर कहा है—

'अथ दृषद मुपदधाति-धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यस्वग्वेत्विति, तत्संज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति, नेदं न्योऽन्य ं हिनसाव इति, इयमेवैषा पृथिवी रूपेण'। का. १. अ. २. ब्रा. ५. का १५

यहां विज्ञजन **'रूपेण'** पद पर ध्यान दें। अर्थात् यह जो दृषद कृष्णा जिन पर रखी जातीहै—सो यह वस्तुतः पृथिवी का रूप है। और कई स्थानों पर गाथा का अलौकिकत्व हमें इस बात की ओर प्रेरित करता है कि हम इसे अलंकार समझें। जैसे सात पृष्ठ पर **(का. १ अ. १. ब्रा. ४ का. १४-१७)** 'दृषदुपल समाघात' विधि में किलात आकुली नामक असुर ब्राह्मणों के उपाख्या नमें।

अब रहा यह विषय कि ब्राह्मण वेद हैं अथवा वेद व्याख्यान—सो इस विषय का निर्णय इस प्रकार किया जा सकता है कि ग्रन्थकार ने वेद मन्त्रों की व्याख्या करते हुए अनेक स्थानों को यह कह कर छोड़ दिया कि **'नात्र तिरोहितमिवास्ति'** अर्थात् मन्त्र का जितना अङ्ग जटिल था, उसकी व्याख्या हमने कर दी शेष स्पष्ट है। क्या इस **नात्र तिरोहितमिवास्ति'** को पढ़ते हुए आप को टीकाकारों के **'स्पष्ट मन्यत्'** का स्मरण नहीं हो आता? यदि आपको अब भी सन्देह हो तो हम आप को स्पष्ट व्याख्यान शब्द ही दिखा सकते है। यथा—

'तददस्तद् दिवाकीर्त्यानाम् ब्राह्मणे व्याख्यायते यथा तद् यज्ञस्य शिरः प्रतिदधतुः।' का. ४. अ. १ ब्र. ५. १५

अब हमारा केवल इतना कर्त्तव्य शेष रह गया कि हम उपर्युक्त प्रकार के प्रमाण कहां २ आये हैं—इसकी सूची उपस्थित करदें। सो यह भी लीजिये।

तदुहाषाढः—का. १ अध्याय १ ब्रा. १ क. ७

तद्धैके—का. १ अ. ३ ब्रा. ४ क. २६। का. २ अ. ६ ब्रा. २ क. ३३। का. ३ अ. ५ ब्रा. २ क. ४

तद्धैकेषाम्—का. १ अ. ६ ब्र. ३ क. २

का. ३ अ. ६ ब्रा. ४ क. ३० । का. ७ अ. ३ ब्रा ३ क. ७

अत्रहैके—का ३ अ. २ ब्रा. ५ क. ३६

इमामुहैके—का. ४ अ. २ ब्रा. ६ क. ८

पार्श्वत उहैके—का. ११ अ. ४ ब्रा. ८. क. १४.

नात्र तिरोहितम्—

का. १. अ. १. ब्रा. १. क. ३. अ. ३. ब्रा. १. क. १६ ।

का. ३. अ. ६. ब्रा. ३. क. १४. । का. १४ अ. १. ब्रा. ३. का. १०. ११. ।

पुरा. एतर्हि. का. १. अ. ब्रा. ४. १३ ।

अधुना—का. ३, अ. ३. ब्रा. १. क. १६ ।

व्याख्यायते—

का. १. अ. ६. ब्रा. १. क. ७. का. ३. अ. १. ब्रा. ३. क. १ ।

का. ४. अ. १. ब्रा. ५. क. १५. ।

नामानि—

आषाढः सावयसः का. १ अ. १ ब्रा. १ क. ७

बकुः वार्ष्णः का. १ अ. १ ब्रा. १ क. ६

भाल्लवेय	का. १	अ ७	ब्रा १	क. १९
	का. १३	अ. ४	ब्रा. १५	क. ३
	का. १३	अ. ५	ब्रा. ५	क. ४
	का. २	अ. १	ब्रा. ४	क. ६
आसुरि	का. २	अ. १	ब्रा. ४	क. २७
पाश्वि	,,	,,	,,	,,
माधुकि	,,	,,	,,	,,
प्रतीदर्श	का. २	अ. ४	ब्रा. १	क. ३
सुप्ला	का. २	अ. ४	ब्रा. १	क. ४
आरुणि	का. ३	अ. ३	ब्रा. १	क. १९
	का. ४	अ. ५	ब्रा. ८	क. ९
चरकाः	का ४	अ. १	ब्रा. २	क. १९
चरकाध्वर्युः	का. ४	अ. २	ब्रा. २	क. १५
	का. ८	अ. ७	ब्रा. २	क. १४
श्वेतकेतुःऔद्दालकि	का. ४	अ. २	ब्रा. ४	क. १५
श्वेतकेतुःआरुणेयः	का. ११	अ. ६	ब्रा. ५	क. १
	का. १०	अ. ३	ब्रा. ६	क. १
	का. ११	अ. ५	ब्रा. ६	क. १८
वैश्वावसव्य	का. १०	अ. ३	ब्रा. ६	क. १
औपावि	का. ५	अ. १	ब्रा. १	क. ५७

भद्रसेन	का. ५	अ. ५	ब्रा. ७	क. १४
अक्ताद्य	का. ६	अ. १	ब्रा. २	क. २४
ताराड्य	का. ६	अ. १	ब्रा. २	क. २५
यामकत्तायरण	का. ७	अ. १	ब्रा. २	क. ११
शाट्यायनि	का. ८	अ. १	ब्रा. ४	क. ६
	का. १०	अ. ४	ब्रा. ४	क. ६
	का. ११	अ. ५	ब्रा. ४	क. २
स्वर्जित्	का. ८	अ. १	ब्रा. ४	क. १०
शारिडल्य	का. ६	अ. ४	ब्रा. १	क. १७
कंकतीया	,,	,,	,,	,,
माहित्थि	का. ८	अ. ६	ब्रा. ६	क. १६
शारिडल्यायन	का. ६	अ. ५	ब्रा. २	क. ६४
दैयाम्पाति	,,	,,	,,	,,
श्यापर्ण	का. ६	अ. ५	ब्रा. ३	क. १
	का. १०	अ. ४	ब्रा. ७	क. १०
शारिडल्य	का. ६	अ. ५	ब्रा. ३	क. १५
कावषेय	,,	,,	,,	,,
शारिडल्य	का. १०	अ. ५	ब्रा. ३	क. १०
सात्यरथ वाहनि	,,	,,	,,	,,
धीर	का. १७	अ. ३	ब्रा. ५	क. १
महाशाल	,,	,,	,,	,,

शाण्डिल्य वाम कत्तायण				
	का. १०	अ. ४	ब्रा. ७	क. ११
शाकायनिनः	का. १०	अ. ४	ब्रा. ४	क. १
औमत्य	,,	,,	,,	,,
हालिंगव	,,	,,	,,	,,
घेलकशाण्डिल्यायन	का. १०	अ. ४	ब्रा. ४	क. ३
अरुण, सत्यज्ञ, बुडिल, इन्द्रद्युम्न, जन	का. १०	अ. ६	ब्रा. ४	क. १
अश्वपति कैकय	का. १०	अ. ६	ब्रा. ४	क. २
उद्दालक	का. ११	अ. ४	ब्रा. ७	क. १
	का. १२	अ. २	ब्रा. ६	क. १३
	का. ११	अ. ५	ब्रा. ५	क. ११
	का. १४	अ. ६	ब्रा. ५	क. १
शौनक स्वैदायन	का. ११	अ. ४	ब्रा. ७	क. २
शौचेय	का. ११	अ. ५	ब्रा. ५	क. १
सोमशुष्म	का. ११	अ. ६	ब्रा. ५	क. २
भृगु	का. ११	अ. ६	ब्रा. ४	क. १

वरुण	”	”	”	”
जनक	का. ११	अ. ६	ब्रा. ५	क. १
	का. १४	अ. ५	ब्रा. १	क. १
	का. ११	अ. ३	ब्रा. ४	क. २
	का. ११	अ. ६	ब्रा. ५	क. १
	का. ११	अ. ६	ब्रा. ६	क. १
	का. ११	अ. ६	ब्रा. ६	क. १
	का. १४	अ. ६	ब्रा. ६	क. १
	का. १४	अ. ७	ब्रा. ८	क. १
	का. १४	अ. ७	ब्रा. ९	क. १
	का. १४	अ. ७	ब्रा. १	क. १
आर्त्तभाग	का. १४	अ. ६	ब्रा. ७	क. १
भुज्यु	का. १४	अ. ६	ब्रा. १	क. १
कहोड	का. १४	अ. ६	ब्रा. २	क. १
उषस्त्र	का. १४	अ. ६	ब्रा. ३	क. १
गार्गीवाचक्रवी	का. १३	अ. ६	ब्रा. ४	क. १
	का. १४	अ. ६	ब्रा. ६	क. १
विदग्ध	का. १४	अ. ६	ब्रा. ७	क. १
कोशिन्नृपतीनां सम्राट्	का. ११	अ. ८	ब्रा. ४	क. १
खण्डिक	का. ११	अ. ८	ब्रा. १४	क. १
पैंग्य	का. १२	अ. ३	ब्रा. ६	क. ४

	का. १२	अ. २	ब्रा. ८	क. ८
प्रोति	का. १२	अ. २	ब्रा. ६	क. १३
कौसुरु विन्दि	,,	,,	,,	,,
नाक मौद्गल्य	का. १२	अ. ५	ब्रा. ८	क. १
दुष्ट रीतु चाक्र	का. १२	अ. ६	ब्रा. ५	क. १
वल्हिक	का. १२	अ. ६	ब्रा. ५	क. ३
गौरीवीतिः	का. १२	अ. ८	ब्रा. २	क. ७
मुण्डिम	का. १३	अ. ३	ब्रा. १०	क. ४
गोतम	का. १३	अ. ५	ब्रा. ३	क. १
सात्ययज्ञि	का. १३	अ. ५	ब्रा. ५	क. ८
सत्यकाम	का. १३	अ. ५	ब्रा. ५	क. १
सौमापौ	का. १३	अ. ५	ब्रा. ५	क. २
शैलालि	,,	,,	,,	क. ३
इन्द्रोत शैनिक	,,	,,	,,	क. ५
कुश्रि, सुश्रवाग	का. १०	अ. ५	ब्रा. ६	क. १
दैवाय शौनक जनमेजय	का. १६	अ. ५	ब्रा. ६	क. १
भीमसेन उग्रसेन श्रुतसेन	का. १३	अ. ५	ब्रा. ६	क. ३

आटणार	"	"	"	क. ४
पुरुकुत्स	"	"	"	क. ५
मरुन्त्त	"	"	"	क. ६
क्रैव्य	"	"	"	क. ७
ध्वंसा	"	"	"	क. ९
भरत	"	"	"	क. ११
शकुन्तला	"	"	"	क. १३
ऋषभ	"	"	"	क. १५
शोण	"	"	"	क. १६
स्रतानीक	"	"	"	क. १९
ब्रह्मदत्त	का. १४	अ. ४	ब्रा. १	क. २६
वामदेव	का. १४	अ. ४	ब्रा. २	क. १२

दृप्त बालाकिगार्ग्य, अजात शत्रु काश्य } का. १४ अ. ५. ब्रा. १ क. १

मैत्रेयी का. १४ अ. ५ ब्रा. ४ क. १ । का १४ अ. ७ ब्रा. ३ क. १ .

कात्यायनी का. १४ अ. ७ ब्रा. ३ क. १ ।

वशः का. १० अ. ७ ब्रा. ८ क. ९ । का. १४ अ. ५ ब्रा. ५ क. २२ का. १४ अ. ७ ब्रा. ३ क. २६–२८ का. १४ अ. २ ब्रा ५ क. ३०–३३ .

तदेष श्लोकः—का. १० अ. ५ ब्रा. २क १६

श्लोकाः—का. १४ अ. ४ ब्रा. ३ ब्रा. ३ क. १
अथैष श्लोकोभवति का. १४ अ. ४ ब्रा. ३ क. ३४
तदप्येते श्लोका. का. ११ भ. ब्रा. क. ५

ग्रन्थ का विषय क्या है ।

पिछले दो लेखों में मैंने यह दिखलाया है कि शतपथ के उपज्ञाता याज्ञवल्क्य हैं और इस का उपनिबन्धक उनका कोई शिष्य है, यह ग्रन्थ वेद व्याख्यान है तथा अपौरुषेय नहीं।

अब दो चार पंक्तियां इस विषय में लिख कर कि इसका नाम शतपथ क्यों है मैं इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय की ओर आऊंगा। मुझे इस के शतपथ कहे जाने का अब तक कोई स्पष्ट कारण नहीं मिला। यह ग्रन्थ सौ, सौ कण्डिकाओं के समुदायों में बांटा हुआ है, यह समुदाय स्मरण की सुगमता के लिये बांधे गये हैं अथवा अन्य किसी प्रयोजन से यह कहना कठिन है। ग्रन्थकार की शैली से पता लगता है कि उसकी संख्यायें किसी न किसी बात का उपलक्षण (Symbol) होती हैं, सो यदि उपलक्षणया (Symbolically) इस का अर्थ करना हो तो यह कह सकते हैं कि इसमें एक शब्द में अनेक गम्भीर भाव छिपे हैं। इसीको सूचित करने के लिये इसे सौ कण्डिकाओं के समुदाय में बांटा गया है और कण्डिकाओं के समुदाय में बांटा गया है, और यही इसके शतपथ कहे जाने का मर्म है। किन्तु यह केवल कल्पना मात्र है, इससे अधिक इसका कुछ मूल्य नहीं, व्यवस्थित बात तो केवल इतनी है कि यह सौ, सौ कण्डिकाओं के समुदायों में बंटा हुआ है।

अब मैं इस लेख माला के मनोरंजक भाग में प्रवेश

करता हूं। इस ग्रन्थका विषय क्या है? मैं पहिले ही कह चुका हूं कि ब्राह्मण वेद व्याख्यान हैं,परन्तु यह कथन पूर्णतया यथार्थ नहीं। परमार्थतस्तु शतपथकार वेद मन्त्रों के भिन्न २ यज्ञ क्रियाओं में विनियोग की व्याख्या करते हैं। अर्थात् यह बताते हैं कि इस मंत्र के इस क्रिया में प्रयोग करने का क्या स्वारस्य है। इसी प्रसङ्ग से इसमें मंत्रों की भी व्याख्या होगई है। सो इस प्रकार यह स्पष्ट होगया कि शतपथ का प्रतिपाद्य बिषय पूर्ण मास से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ है। प्रथम काण्ड में पूर्ण मास का वर्णन है, दूसरे में अग्न्याधान, अग्नि-होत्र, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रयण, दाक्षायण, बैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, महाहवि, त्र्यम्बक याग, तथा शुनासीर्य का, तृतीय, चतुर्थ में सोम याग का, पञ्चम में वाजपेय तथा राजसूय का छठे से १० म तक अग्नि चयन का, ११वें में दर्श पूर्ण मास का रहस्य, १२ वें में सौत्रा मणि १३ वें में अश्वमेध तथा चतुर्दश में ब्रह्म बिद्या सम्बन्धी संवाद हैं। इस प्रकार देखने से ज्ञात हो गया कि शतपथ का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ है। परन्तु यज्ञ हैं क्या? शतपथ के अध्ययन से जो यज्ञ का लक्षण मैं समझा हूं वह इस प्रकार है—

'कल्याणार्थिना सामुदायिकम् योगक्षेममुद्दिश्य समुदायाङ्गतया क्रियामाणङ्कर्म यज्ञः।'

अर्थात् कोई कल्याणार्थी अपने आप को समुदाय का अंग मान कर जिस समुदाय का वह अङ्ग हो उसके सामुदा-

यिक स्वार्थ की सिद्धि के लिये जो कर्म करता है वह यज्ञ है।

इस लेख में मुझे यह दिखाना है कि इस लक्षण पर मैं किस प्रकार पहुंचा। सो इसकी प्रमाण शृङ्खला उपस्थित करता हूं। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमङ्कर्म' का १ अ० ७ ब्रा ४ कं० ५।

यज्ञ नाम श्रेष्ठतम कर्म का है।

अब श्रेष्ठ तम कर्म से क्या तात्पर्य है—

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यमिवासु रथहासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति। ते होचुहन्तेमाम्पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्ष्णैश्चर्म्मभिः पश्चात् प्राञ्चोविभजमाना अभीयुः तद्वै देवाः शुश्रुवुः विभजन्ते ह्वा इमांमसुराः पृथिवीम्प्रेत तद्देस्यामो यत्रेममसुरा विभजन्ते के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णुम्पुरस्कृत्येयुः ते होचुः अनु नोऽस्याम्पृथिव्यामभजतास्त्वेव नोऽप्यस्याम्भाग इति तेहासुराः असूयन्त इवोचुः यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वोददस्त इति। वामनोह विष्णुरास तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्येनो यज्ञसम्मितमदुरिति (का० १ अ. २ ब्रा. ३ क. १—५)

देव और असुर इन दोनों प्रजापति की सन्तानों में परस्पर संघर्ष था देव चुप साध कर पड़े थे असुरों ने समझा चलो अब तो सब धरती हमारी है अब इसे बांट लें और बांट कर भोगें सो लगे वृष चर्म लेकर पूर्व पश्चिम धरती नापने, यह वृत्तान्त देवों ने भी सुना कि असुर लोग धरती का बटवारा कर रहे हैं बोले चलो जहां धरती बंटती है। हमें कुछ न मिलेगा तो हमारी क्या गति होगी सो वे यज्ञ रूप विष्णु को आगे करके चले वे बोले भाई इस धरती में कुछ भाग हमारा भी तो हो। असुरों ने हिरखाए हुए से होकर कहा अच्छा यह विष्णु जितने में लेट जावे उतना तुम्हें भी दे देंगे। विष्णु था ही वामन पर देव लोग इससे बिलकुल नहीं घबराए वे मन ही मन बोले इन्होंने जो हमें यज्ञ के नाम की धरती दे दी सो बहुत दे दी।'

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि देव लोग यज्ञ के नाप की धरती मांगते थे और असुर अपने २ वृष चर्म के नाप की। इस विरोध द्वारा शतपथकार ने बता दिया कि उनकी दृष्टि में श्रेष्ठतम कर्म का तात्पर्य क्या है—उनकी दृष्टि में आसुर कर्म है 'स्वार्थाय क्रियमाणं कर्म' और इसका उलटा 'सामुदायिकं योगक्षेमं पुरस्कृत्य क्रियमाणं कर्म' यज्ञ है।

अब प्रश्न उठता है कि पूर्ण मास आदि क्रियाओं में जल, व्रीहि सोम आदि जो पदार्थ लिए जाते हैं वे प्रतिनिधि मात्र हैं अथवा उनका कोई स्वतन्त्र मूल्य भी है इसका

उत्तर है कि यदि उन में कोई स्वतन्त्र गुण न हो तो वह प्रतिनिधि बनाए नहीं जा सकते। उदाहरण के लिए प्रथम पृष्ठ पर प्रारम्भ में ही आचमन विधि को लीजिए यजमान यज्ञ किया चाहता है, वह व्रत धारण करने लगा है, व्रत धारण से पूर्व मनुष्य को अपने मन को बड़ा शुद्ध कर लेना चाहिए। बस इस शुद्धि का प्रतिनिधि यहां जल है। परन्तु यदि जल में पावनत्वगुण न हो तो इसे शुद्धि का प्रतिनिधि क्यों रखा जाता। सच पूछिए तो शतपथ की प्रवृत्ति ही यह बताने के लिये हुई है कि यज्ञमें जो वाक्य बोलेजाते हैं, तथा जो क्रियायें की जाती हैं उन में परस्पर क्या अनुराग (Harmony) है आप देखेंगे कि—यज्ञ का प्रधान अंग अग्नि भी वास्तव में किसी वस्तु का प्रतिनिधि ही है। इसका प्रमाण लीजिये—

"देवाश्चवा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। त उभये एव अनात्मान आसुः। मर्त्याहि आसुः। अनात्मानोहि मर्त्याः। तेषु उभयेषु मर्त्येषु अग्निरेव अमृत आस। तंहस्म उभये अमृतमुपजीवन्ति। स यह एषा घ्नन्ति, तद्ध स्म वैस भवति। ततो देवाः तनीयांस इव परिशिषिरे। तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः उत असुरान् सपत्नान् मर्त्यान् अभिभवेमेति। स एतदमृतं अग्न्या धेयं ददृशुः। ते होचुः—हन्तेदममृत मन्तरात्मन् आदधामहे त इदममृत मन्तरात्मन् आधाय अमृतर्य्या भूत्वास्तर्यान्

सपत्नान् मर्त्यान् अभिभविष्याम इति। तेहोचुः उभयेषुवै नोयमग्निः प्रत्येवासुरेभ्यो ब्रवाम इति। ते होचुः–आवै वयमग्निं धास्यामहे, अथ यूयं किंकरिष्यथ इति १ ते होचुः– अथैनं वयं न्येव धास्यामहे। अत्र तृणानि दह, अत्र दारूणि दह, अत्र ओदनं पच, अत्र मांसं पचेति। स तं यमसुरा न्यदधत, तेन अनेन मनुष्या भुञ्जते। अथैनं देवा अन्तरात्मन् आदधत। त इममृतं अन्तरात्मन् आधाय अमृता भूत्वा अस्तर्या भूत्वा सपत्नान् मर्त्यान् अभ्यभवन्। तथोएवैष एतदमृतं अन्तरात्मन् आधत्ते। नामृतत्वस्याशास्ति। सर्वमायुरेति अस्तर्यो हैव भवति च हैनं सपत्नस्तुतूर्षमाए अन स्तृणुते। तस्मात् यदाहिताग्निरनाहिताग्निश्च स्पर्धेते अहिताग्निरेवाभिभवति। अस्तर्यो हि सखलु तर्हि भवत्यमृतः। (श. २। २। २। ८ १४।) देव

देव और असुर दोनों में परस्पर संघर्ष था दोनों अनात्मा थे, दोनों मर्त्य थे। अनात्मा ही को मर्त्य कहते हैं उन दोनों मर्त्यों में अग्नि अमृत था। दोनों का गुजारा इसी के सहारे होता था! सो उन में से

जिस किसी को अग्नि मार देता था, वह ही मर्त्य हो जाता था। फिर देव थोड़े से रह गए। वे पूजा करते हुए और पुरुषार्थ करते हुए विचरने लगे कि किसी प्रकार अपने शत्रु मर्त्य असुरों को परास्त करदें। उन्होंने इस अग्न्याधेय रूपी अमृत को ढूंढ निकाला। वे बोले—इस अमृत का अन्तरात्मा में आधान करें। सो इस अमृत का अन्तरात्मा में आधान करके अहिंस्य हो कर हिंस्य मर्त्य शत्रुओं को दबा लेंगे। वे बोले—अग्नि तो हम दोनों में हैं।

चलो असुरों से बात कर देखें। तुम क्या करोगे? वे बोले-हमइस का निधान करेंगे। इससे कहेंगे यहां तृण जला यहां काष्ठ जला, यहां भात पका, यहां मांस पका। सो जिस अग्नि का असुरों ने निधान किया, उससे मनुष्य भोजन करते हैं। दूसरी ओर देवों ने उसका अन्तरात्मा में आधान किया। सो वे इस अमृत का अन्तरात्मा में आधान करके, अमर, अहिंस्य हो कर, मर्त्यहिंस्य शत्रुओं को परास्त करने में समर्थ हुए उसी प्रकार यह अग्न्याधान करने वाला इस अमृत को अन्तरात्मा में आधान करता है। इसका तात्पर्य कहीं यह न समझ लेना कि उसे मौत ही नहीं आती। ऐसी आशा दुराशा मात्र है, हां वह पूर्ण आयु भोगता है। और अहिंस्य होजाता है। जो कोई शत्रु उसे मारना चाहे वह उसे मार नहीं सकता। इसी लिये जब आहिताग्नि और अनाहिताग्नि का संघर्ष होता है तो आहिताग्नि ही दूसरे को परास्त करता है

क्योंकि वह अहिंस्य है, अमर्त्य है।

ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट हो गया कि अग्नि का अर्थ जो लोग रोटी पकाने वाला, काष्ठ जलाने वाला अग्नि समझते हैं वे शतपथकार की दृष्टि में असुर हैं—मूर्ख हैं यही नहीं यज्ञ वेदी में अग्न्याधान करने वाला वस्तुतः अन्तरात्मा में आग्न्याधान करता है। वह अग्नि कौन सा है? इसे शतपथ के ही शब्दों में सुनिये—

"आकूत्यै प्रयुजे अग्नये स्वाहेति। आवा अग्रे कुरुते। यजेतेति। तद् यदेवात्र यज्ञस्य तदेवै तत् संभृत्य आत्मन् कुरुते। सेवायै मनसे अग्नये स्वाहेति। मेधया वै मनसः अभिगच्छिति. यजेयेति तद् यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत् संभृत्य आत्मन् कुरुते। दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहेति। अन्वे वैतदुच्यते न तुहूयते। सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति। वाग् वै सरस्वती। वाग् यज्ञः पशबौ वै पूषाः। पुष्टिः पशवः। पशबो हि यज्ञः॥ तद् यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत् संभृत्य आत्मन् कुरुते।" (कां. ३ अ. १ ब्रा ४ क ६-१)

यहां संभरण विधि की व्याख्या की है। उसमें ये आहुतियां आती हैं।

"आकूत्यै प्रयुजे अग्नये स्वाहा"–**"आ"** का अर्थ है आगे। **कुवते** का अर्थ प्रेरणा करे, कि मैं यज्ञ करूं। सो इस आहुति द्वारा जो इस वाक्य में से यज्ञांश है, उसे संग्रह करके अपने आत्मा में धारण करें। **"मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा"** मेधा के द्वारा ही मन के द्वारा इस निश्चय पहुंचाता है कि मैं यज्ञ करूं। सो इस आहुति द्वारा जो इस वाक्य में जो यज्ञांश है उसे संग्रह करके अपनी आत्मा में धारण करे। **"दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा"** यह वाक्य केवल बोला जाता है। इससे आहुति नहीं दी जाती। **सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा"** सरस्वती का अर्थ है वाणी। पूषा का अर्थ है पशु। पशु भी पुष्टि हैं। इस अंश में पशु यज्ञ हैं। सो इस में जो यज्ञांश हैं उसे संग्रह करके अपनी आत्मा में धारण करे।

इस प्रकरण में स्पष्ट ही 'आकूति' 'मेधा' दीक्षा' 'और' 'सरस्वती' को अग्नि कहा है। इससे स्पष्ट हुआ कि वेदी-गत अग्नि नाटक का एक पात्र है। उसका अभिनेतव्य विषय अन्तरात्म-गत आकूति मेधा दीक्षादि अग्नि हैं। जो इस रहस्य को न समझे वह 'असुर' हैं।

अब पुरोडाश-प्रकरण में कपाल को लीजिये।

'सबै कपालान्ये बान्यतर उपदधाति दृषदुराखेऽन्यतर स्तद्वा एतदुभयं सह क्रियते शिरोह वा एतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः सयान्ये वास्य शीर्ष्णः

कपालानि तान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एव पिष्टानि। (का. १० अ. २ ब्रा. ५. क. १-२)

पूर्णमास का पुरोडाश तैयार करते समय एक कपाल लेकर बैठता है एक सिल बटा लेकर ये दोनों कर्म एक साथ किये जाते हैं क्योंकि पुरोडाश यज्ञ का सिर है। इसी लिए कपाल कहलाते हैं क्योंकि वह इन्हीं कपालों के प्रतिनिधि हैं और जो पिट्टी पिसी जाती है वह मस्तिष्क है। इसी प्रकार कृष्णाजिन को लीजिये—

तस्य यानि शुक्लानि कृष्णानि च लोम नि तान्यृचां साम्नाञ्चरूपं यानि शुक्लानि तानि साम्नाँरूपं यानि कृष्णानि तान्यृचाँ यदि बेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्नाँ रूपं यानि शुक्लानि तान्यृचां यान्येव वभ्रणि हरीणि तानि यजुषां रूपं। सैषात्रयी विद्या यज्ञः (का. १ अ. १ ब्रा. ४ क. २-३)

उस कृष्णाजिन के जो श्वेत रोम हैं वह ऋक् और साम के रूप हैं। जो शुक्ल हैं वह साम का, जो कृष्ण है वह ऋक् का अथवा इससे उलटा समझ लो जो कृष्ण हैं वह साम का रूप है जो शुक्ल है वह ऋक् का। जो भूरे और हरि वर्ण हैं वह यजुः का। यह त्रयी विद्या यज्ञ है।

देखा आपने कि कृष्णाजिन भी विद्या का प्रतिनिधि हैं।

'दिवि वै सोम आसीत् अथेह देवास्ते देवा अकामयन्त नः सोमो गच्छेदत्तेनागतेन यजेमहीति त एते माये ऽसृजन्त सुपर्णींश्च कद्रूश्च, वागेव सुपर्णी यं कद्रूस्ताभ्यां समदं चक्रुः। ते हन्तीयमाने ऊचतुः यतरा नौ दवीयः परापश्यदात्मानं नौ सा जयादिति तथेति साहैकद्रूरुवाच परीत्तस्वेति साहसुपर्ण्युवाच–अस्य सलिलस्य पारे अश्वः श्वेतः स्थाणौ सेवत इत्यग्निर्वा अश्वः श्वेतो यूपः, स्थाणुरथ यत् कद्ररुवाच तस्य वा लोन्यसञ्चि तमनु वातो धुनोति तमहं पश्यामीति रशना हैवसा साह सुपर्ण्युवाच–एहीदं पताव वेदितुं यतरा नौ जवतीति साह कद्रूरुवाच त्वमेव पतत्वं वैन आख्यास्यसि यतरा नौ जयतीति। साह सुपर्णी पपात तद्ध तथैवास यथा कद्रूरुवाच तामागतामभ्युवाद त्व मजैषी ३ रहा ३ मिति त्वामिति हो वाचैतद्धया-ख्यानं सौपर्णी काद्रवमिति साह कद्रूरुवाच आत्मानं वे त्याजैषं दिव्यसौ सोम स्तं देवेभ्य आ-त्मानं निष्क्रीणीष्वेति तथेति छन्दांसि ससृजे सा गायत्री दिवः सोम माहरत् हिरण्मय्योर्ह कुश्योर-न्तर्निहित आस...... ॥

तयोरन्यतरां कुशीं चिच्छेद तां देवेभ्यः प्रददौ

सा दीक्षा तया देवा अदीक्षन्त अथ द्वितीयां कुशीमाच्छिच्छेद तां देवेभ्यः प्रददौ तत्तपः।

(कां. ३ अ. ६ ब्रा. १ क. २-११)

सोम देव लोक में था यहां देव थे सो वे देव चाहने लगे कि सोम हमारे पास आ जावे उससे यज्ञ करें उन्होंने यह दो माया रची एक सुपर्णी दूसरी कद्रू। सुपर्णी नाम बाणी का है और कद्रू इसका [अर्थात् पृथ्वी का] उन को मस्त कर दिया। वे ईर्ष्या वश हो कर बोली जो हम में से दूर तक देख सके वह हम दोनों में से जीते बाज़ी अपने आपकी कद्रू। बोली ऐसा ही हो चल देख वह सुपर्णी बोली इस सलिल के पार श्वेत घोड़ा स्थाणु पर खड़ा है। अग्नि वह अश्व है यूप स्थाणु है कद्रू बोली उसका जो बाल फंसा हुआ है उसे हवा उड़ाती है वह-यूप रशना है सुपर्णी बोली आ उड़ कर देख आवें हम में से कौन जीती। कद्रू बोली तू ही उड़ कर देख आ तू ही स्वयं बता देगी हम में से कौन जीती। जब वह उड़ कर आई कद्रू ने पूछा तू जीती कि मैं? सुपर्णी बोली तू। इसी का नाम सौपर्णी काद्रव व्याख्यान है।

कद्रू बोली मैंने तुझे जीत लिया। देव लोक में सोम है उसे देवों को ला दे और इस प्रकार देवों से अपने आपको छुड़ा ले उसने कहा--बहुत अच्छा उसने छन्दों की सृष्टि की वह गायत्री देव लोक से सोम को ले आई! सोम दो सोने के गमलों में रक्खा था। उन में से एक गमला छीन लाई उसे

देवों को दे दिया वह दीक्षा है। उसी से देव दीक्षित होते हैं। फिर दूसरा गमला छीन लाई वह भी देवों को दे दिया। वह तप है।

इस प्रकरण में आपने देखा कि सोम दीक्षा और तप के गमलों में लगा हुआ पदार्थ है वह क्या है वह भी सुनिये—

सत्यं यशः श्री ज्योतिः सोमः अनृतं पाप्मा तमः सुरा (का ५. अ. १. बा. २. क. १०)

समझा आपने सोमयाग में सोम केवल प्रतिनिधि मात्र है। किसका ? सत्य यश श्री और ज्योति का। सुरा भी यदि इस नाटक में आती है तो अभिनय करने को किसका—अनृत पाप अन्धकार का।

अब ज़रा अग्निषोमौ पर भी कुछ सुन लीजिये।

द्वयं वा इदं न तृतीय मस्ति आर्द्रं चैव शुष्कञ्च यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम् ।(का. १ अ. ७ बा. २ क. २३)

संसार में दो ही प्रकारके पदार्थ हैं। एक आर्द्र और एक शुष्क। जो शुष्क हैं वह आग्नेय हैं जो आर्द्र है वह सोम्य।

अब यदि मैं आपको इतना और बतादूं कि यह अग्नी सोम ही देवता हैं जिनके नाम पर मस्तिष्क के प्रतिनिधि पुरोडाश की आहुति की जाती है तो आप स्वयं समझ लेंगे जो कि शतपथकोर अपनी शतपर्थान बाणी से क्या कह रहे हैं

वह कह रहे हैं कि आदर्श मस्तक में अग्नि और सोम आर्द्र और शुष्क दोनों का उचित मेल होना चाहिये। अस्तु। प्रकरण से निकल चला मेरा आज का विषय अग्नोषीम को अथवा पूर्णमास की व्याख्या नहीं, विषय है यज्ञ क्रिया और पात्रों तथा पदार्थों का भाव विशेष प्रतिधित्व। सो. लीजिये—

'पवित्रे करोति पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति। यज्ञोवै विष्णुर्य्याज्ञियेस्थ इत्यवै तदाह तेवै द्वे भवतः अयं वे पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमेव इवैव पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ्च प्रत्यङ्च ताविमौ प्राणोदानौ तदेतस्यैवानुमात्रां तस्माद् द्वे भवतः।

(का. १ अ. १ ब्रा. ३ क. १—२)

दर्भ की दो पवित्रा बनाई जाती है वहां मन्त्र पढ़ते हैं **'पवित्रे स्थो वैष्णव्यो** विष्णु' नाम का यज्ञ का है सो हे पवित्रे! तुम दोनों यज्ञोपयोगी हो। वह दो होती हैं पवित्र नाम इस वायु का है जो संसार को पवित्र करता है, परन्तु यह तो एक है पवित्र दो क्यों? सो मनुष्यों के शरीर में यह प्राणोदान दो रूप ग्रहण कर लेता है! उसी की मात्रा के पीछे यह बनाये जाते हैं। इस लिये ये दो होती हैं। **'एतेस्यैवानुमात्रां'** इन शब्दों पर ध्यान दीजिये। और लीजिये—**अग्नि रेतो हिरण्यम् (का. २ अ. ब्रा. ३. क. १८)** स्वर्ण अग्नि का वीर्य है (स्वर्ण नहीं)

"क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम्" (का. १३ अ. २ ब्रा. २ क. १७) स्वर्ण क्षत्रिय का रूप है।

क्षत्रं वाऽश्वः (का. ६. अ. ४ ब्रा. ४ क. १२)

अश्व क्षत्रिय का प्रतिनिधि है। क्यों यह भी बताते हैं।

वीर्यं वा अश्वाः (का. २ अ. १ ब्रा. ४ क. २३ २४)

राष्ट्रं वा अश्वमेधः (का १३. अ. १ ब्रा. ६ क. ३)

यहां तक इनकी बातें दिखाई गईं—

जल पावनत्व का प्रतिनिधि है, अग्नि शुष्कत्वका, आकूति का मेधा, दीक्षा का सोम सत्य, यश श्री ज्योति का, सुरा अनृत पाप अंधकार का, पवित्रे प्राणोदान के स्वर्ण वीर्य का।

अश्व क्षत्रिय का, अश्वमेध राष्ट्र का।

इसी प्रकार वेदि को लीजिये—(१६)

अभितोऽग्निमंसा उन्नयति......सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात् मध्ये संहरिता पुनः पुरस्तादुर्व्येवमेवहि योषाम्प्रशंसन्ति। (का. १ अ. २ बा. ३ क. १५—१६)

वह वेदि पश्चाद् भाग में चौड़ी, मध्य में पतली, और फिर चौड़ी इस प्रकार की होनी चाहिए क्योंकि इसी प्रकार का स्त्रीशरीर प्रशस्त समझा जाता है। उसके कंधे दोनों ऊँचे कर देने चाहियें क्योंकि आहवनीयाग्नि पुरुष का प्रतिनिधि है

यह स्त्री की, यहां स्त्री पुरुष का जोड़ा है पत्नी गले में बांह डाले होती है।

जिस प्रकार नाटक में साधारण स्थिति के वेतन भोगी लोग वेतन विशेष तथा वाक्य विशेषों के कारण और के और होजाते हैं इसी प्रकार यहां भी जल स्वर्ण पवित्रा, पुरोडाश, वेदि आदि सभी जड़ पदार्थ मन्त्र से रूपान्तर को प्राप्त होगए हैं। अब वह सब देवता हैं। इस लिए यज्ञाङ्ग होने से छोटे से छोटा तृण भी देवता पद पा लेता है।

नाटकशाला में प्रति नायक (Villain af the piea) का वेतन नायक से कुछ कम नहीं होता। इसी प्रकार तृण का पद अपने स्थान पर पुरोडाश से कुछ कम नहीं। लीजिये, इस तृण को, होता के आसन पर बैठते समय होंता कहता है—

निरस्तः पुरावसुः इदमह मथावसोः सदने सीदामि।

अब जरा यज्ञलक्षण को स्मरण कर लीजिये फिर उसके प्रकाश में अर्थावसु का अर्थ देखिये। अर्थावसु का अर्थ है वह जो धन को पीछे रखता है काम को आगे, यह देवताओं का होता है। असुरों का होता है पुरावसु, (fee first) काम करने से पहिले टके धरा लेने वाला। होता के आसन पर बैठते समय मानुष होता कहता है कि मैं देवासन पर बैठने लगा हूं। मैं इस समय अपने अन्दर रहने वाले पुरावसु के छोटे से छोटे अंश को भी निकालता हूं। मैं इस भाव को अत्यन्त गर्हित समझता हूं।

लक्ष्मी की क्या मजाल कि मुझे अपने कर्तव्य से डिगा सके। मैं उसे क्या समझता हूं यह मुख से न बताकर वह एक तृण लेता है। उस तृण को फेंक कर कहता है। **'निरस्तः पुरावसुः'** वह गया पुरावसु।

इसी के स्वर में स्वर मिला कर मानों भावुक शिरोमणि भर्तृहरि कहते हैं।

अधिगत परमार्थान् पण्डितान्मावमंस्थास्तृण मिवलघु लक्ष्मी नैव तान्संरुणद्धि। अभिनवमदलेखा श्यामगण्डस्थलानां न भवति बिसतन्तु वारणं वारणानाम् ॥

अब यह तृण इस नाटक का पात्र है यह देवता है। इस को कहते हैं प्राण प्रतिष्ठा। इसको कहते हैं तिनके में जान डाल देना इसको कहते हैं तिनके में देवता का आह्वान। रसिक जन इस नाटक का रस लें।

———

शब्दार्थ निर्णय की प्रणाली

अभी पीछे हमने यह स्थापना की थी कि यज्ञ नाटक है अर्थात् यज्ञ गत पात्र तथा क्रियाओं का उद्देश्य पावनत्व आदि मध्यगत भावों का अभिनय करना है। मेरी इच्छा आगे यज्ञ की यथा सम्भव व्याख्या करने की है परन्तु इससे पहिले शतपथ के अव्यवस्थितार्थ शब्दों को निर्धारण करने की शैली के विषय में कुछ कहना आवश्यक समझता हूं।

जिन शब्दों का अर्थ ज्ञात है उनका तो नाटक के पात्रों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट रूपेण ज्ञात हो जाता हैं। जैसे--सत्य, यशः श्री, ज्योतिः शब्दों का अर्थ ज्ञात होने के कारण सोम का सौन्दर्य भी समझ में आ जाता है। किन्तु बहुत से शब्द ऐसे भी हैं जिनका अर्थ व्यवस्थित नहीं फिर उनका अर्थ निर्धारित हुए विना उनका इन क्रियाओं से क्या सम्बन्ध है यह किस प्रकार ठीक समझ में आ सकता है। उदाहरण के लिये जब तक वरुण शब्द का अर्थ निर्णय न होजाय तब तक वरुण प्रघास यज्ञ का रहस्य कैसे समझ में आ सकता है? इस लिये पहिले अविज्ञतार्थ शब्दों का अर्थ निर्णय कर लेना चाहिए। इसमें से सब से पहिले देवताओं लीजिए क्योंकि उन्हीं के निमित्त आहुतियां होने के कारण वही यज्ञ के प्रधान अंग हैं।

अब इसके लिये मैंने यह मार्ग अनुसरण किया है कि एक शब्द को लेकर उस का जो स्पष्ट अर्थ शतपथ में दिया है उस

को स्वीकार करके अन्य स्थलों में भी उस के सहारे वाक्यों में अर्थ जानने के यत्न किया। यदि वह अर्थ अन्यत्र संगत होता गया तो उसे आधार तान कर उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले अन्य शब्दों का अर्थ अनुमान किया फिर उसे भी अन्य स्थलों द्वारा परखा है क्योंकि किसो दुर्बोध ग्रंथ के शब्दों का अर्थ निश्चय करना ऐसा ही है जैसे किसी नकशे के सहारे किसी देश की यात्रा करना। जैसे किसी भौगोलिक चित्र में हम एक स्थान का पता पा जांय तो उससे कितनी दूर उत्तर वा दक्षिण में कौन सा नगर है यह जानकर हम उन नगरों के नाम भी जान सकते हैं। इसी प्रकार एक शब्द का अर्थ निश्चय कर लेने पर दूसरे शब्दों का उससे जो सम्बन्ध है उस द्वारा उन शब्दों का अर्थ भी निश्चय किया जा सकता ह। उदाहरणार्थ हम यदि किसी प्रकार इस निश्चय पर पहुंच जांय कि द्यौः का अर्थ पति है तो पृथ्वी का अर्थ पत्नी स्वयं ही निर्धारित हो जायगा। मैंने अपनी शब्दार्थ-निश्चय की शृङ्खला में सबसे पहिले सूर्य्य शब्द को लिया है। आप देख सकते हैं कि इस एक शब्द का अर्थ निश्चय होने से द्यौः, पृथिवी, चन्द्र, वृत्र, आपः आदि शब्दों के अर्थ किस प्रकार निश्चित होते जाते हैं।

इस विषय में जो खोज मैंने अब तक की है वह बड़ी अपूर्ण है तथापि जो कुछ कर चुका हूं वह बड़ा मनोरञ्जक होने के कारण आपके सामने उपस्थित कर देना आवश्यक समझता

हूं परन्तु उसे उपस्थित करने से पहिले मैं यह बता देना आवश्यक समझता हूं कि पूर्ण खोज से मेरा क्या तात्पर्य्य है। उदाहरण के लिये यदि मैं दो एक एक ऐसे स्थल ले लूं जिनमें वरुण शब्द के अर्थ पर कुछ प्रकाश डाला गया हो और उनके सहारे कुछ ऐसे स्थलों की व्याख्या भी कर दूँ जिनका अर्थ अभी तक जाना न गया हो तो वह खोज पूर्ण नहीं कहला सकती। पूर्ण खोज तभी कहला सकती है जब मैं सब स्थल इकट्ठे कर लूं जहाँ २ इस ग्रन्थ में वरुण शब्द आया है और यह दिखा दूं कि जहाँ २ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है वहां वह ही अर्थ है जो मैंने निर्धारित किया है और यदि किसी स्थान पर उसका कोई भिन्न अर्थ हो तो वह भी सोपपत्तिक दिखा दूं और बता दूं कि इस भेद का क्या कारण है। यह कार्य्य जितना अवकाश और साधन मांगता है वह मेरे पास नहीं है तथापि जितना थोड़ा २ किन्तु अपूर्ण कार्य्य मैंने वहुत से शब्दों पर किया है वह आपके सामने उपस्थित कर देना चाहता हूं। आज के व्याख्यान में इतने शब्दों पर कुछ कहूंगा—सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, वृत्र, आप, वरुण, संज्ञपन, अवदातम्।

सूय शब्द का अर्थ—

इस मन्त्र में सूर्य शब्द ज्योति के दोनों ओर इस लिये रक्खा है जिससे उसे दोनों ओर वीर्य की देवता से घेर ले यहाँ सूर्य को स्पष्ट वीर्य की देबता कहा है।

"सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्य स्वाहेति तदुभयतो ज्योती रेतो देवत मापरिगृह्लाति"।

(का. २ आ. ३ ब्रा. ३ क. ६३)

इसका प्रयोग अन्यत्र भी लीजिए प्रश्नोपनिषत् में लिखा हैं।

संवत्सरो वै प्रजापतित्तस्यायने दक्षिणश्चोतरश्च तद्येह वै तदिष्टापूर्तें कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते त एव पुनरावर्तन्ते तस्मदेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते एवह वै रयिर्यः पितृयाणः।

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते।

अर्थात् संवत्सर एक प्रजापति है जिसके दक्षिण और उत्तर दो अयन हैं। सो जो लोग सांसारिक इष्टा पूर्त्तादि कर्मों को लेकर ही हमने सब कुछ कर लिया ऐसा समझते हैं वह चन्द्रमा के लोक को जाते हैं वह फिर लौट आते हैं। इसी लिये सन्तानार्थी ऋषि दक्षिणायन मार्ग से जाते हैं यह रयि मार्ग है यह पितृयाण मार्ग है।

उसके पीछे उत्तरायण मार्ग से तप, ब्रह्मचर्य और विद्या द्वारा आदित्य लोक को जानते हैं।

ऊपर के संदर्भ से हम इन परिणामों पर पहुंचते हैं:—

(१) दक्षिणायन का दूसरा नाम पितृयाण है।

(२) इस मार्ग द्वारा चन्द्र लोक प्राप्त होता है तथा इसका सम्बन्ध सन्तान उत्पन्न करने के साथ है।

अव तो यह सब जानते हैं कि उत्तरायण तथा दक्षिणायण का सम्बन्ध सूर्य्य से है, सम्बत्सर के जिस भाग में सूर्य्य का प्रताप तीव्र होता है। वह उत्तरायण तथा दूसरा दक्षिणायन होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि इसका सम्बन्ध "चन्द्र" से तथा "प्रजकामाः" के साथ क्या है?

थोड़ा विचारने से पता चलेगा कि यहां जिस सूर्य्य का वर्णन है वह यह वाह्य सूर्य्य नहीं क्योंकि भौतिक सूर्य्य अर्थ मानने से पितृयाण, चन्द्रलोक, तथा प्रजाकामाः पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। संसार में सन्तान दक्षिणायन में होते हों और उत्तरायण में न होते हों ऐसा कुछ नियम नहीं फिर चन्द्र के साथ उसका क्या सम्बन्ध है यह तो विलकुल ही पता नहीं चलता।

अब हमने इस विषय में जो मन्तव्य स्थिर किया है उसे उपस्थित करते हैं विद्वज्जन स्वयं विचार लें कि उससे सब गुत्थियां किस प्रकार सुलझती जाती हैं

हमारी समझ में सूर्य्य का अर्थ वीर्य्य है। इस विषय में शतपथ का प्रमाण हम ऊपर दे ही चुके हैं।

जो लोग नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण करते हैं उन का वीर्य सदा उत्तर अर्थात् ऊर्ध्वतर ब्रह्मकुण्ड (मस्तिष्क) में अयन करता रहता है। अर्थात् विचाराग्नि का ईन्धन हो जाता है उन का प्रताप उत्तरायण के सूर्य के समान होता है।

दूसरी ओर जो पितृयाण मार्ग से जाते हैं अर्थात् सन्तान उत्पन्न कर के चन्द्रलोक को जीतते हैं उन का वीर्य क्षीण होने से उन का प्रताप दक्षिणायन के सूर्य के समान हो जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सन्तान उत्पन्न करने से चन्द्रमा का क्या सम्बन्ध हुआ। सो इस के लिए विवाह संस्कार की ओर आइये। विवाह संस्कार में कहा जाता है "द्यौरहं पृथिवी त्वम्" वर वधू से कहता है कि मैं द्यौः हूं तू पृथिवी है। अब विचारिए कि सूर्य कहां रहता है? द्यौः में सो पुरुष सूर्यवान् अर्थात् वीर्यवान् होने से द्यौः कहलाता है, पृथिवी माता है ही। सो द्यौः और पृथिवी के बीच में चन्द्र कौन हुआ सहृदय गण झट इस रहस्य पर पहुंच जावेंगे कि चन्द्र नाम सन्तान का है। "चदि आह्लादे" धातु का अर्थ तो यहां संगत है, ही चन्द्र का दृष्टान्त भी कितना हृदय ग्राही है यह विज्ञ जन स्वयं विचार लें। जिस प्रकार चन्द्र के उदय होने पर पृथिवी का हृदय अर्थात् समुद्र हिलोरे मारने लगता है इसी प्रकार सन्तान के उदय होने पर जननी के हृदय में भी ज्वार उठती है।

एक और स्थान पर भी इस सूर्य का चमत्कार देखिए—उपनयन संस्कार में ब्रह्मचारी को सूर्य दर्शन करा के मन्त्र पढ़ा जाता है:—

"तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम्प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्भूयश्च शरदः शतात्"

अब यहां प्रसंगवश चक्षु शब्द का भी चमत्कार देखिए। चक्षु शब्द का अर्थ क्या है ? चक्षु शब्द का अर्थ है व्याख्याता "चक्ष" धातु का अर्थ है बोलना उसी से चक्षु शब्द बनता है। नेत्र चक्षु क्यों हैं ? क्यों कि वे बोलते हैं। जब न्यायालय में कोई साक्षी मुख से झूठ बोलता है तो नेत्र उस की पोल खोल देते हैं। ताड़ने वाले ताड़ जाते हैं कि यथार्थ घटना क्या है। शोक अथवा हर्ष के वेग में जब वाणी मूक हो जाती है तब नेत्र की भाषा आरम्भ होती है। इसी लिए इन का नाम चक्षु है।

सो सूर्य के सामने ब्रह्मचारी खड़ा हो कर परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि देव आपने जो वह चक्षु हमारे कल्याण के लिए यहां निहित किया है ऐसी कृपा कीजिये जिस से हम सदा इसे देखते रहें। किस लिए ? इसी लिये कि चक्षु है, बोलता है। क्या बोलता है ? हमारे सामने वीर्य का उच्चारण करता है, कहता है कि ब्रह्मचारिन् ! वीर्यवान् की आंख ऐसी होती है तू भी ऐसी बना। बस हम इस व्याख्या को सौ वर्ष

सुनें जिस से सौ वर्ष तक श्रवण तथा प्रवचन की शक्ति हम में बनी रहे जिस से हम सौ वर्ष तक कभी दीन न हों। यहां सूर्य वीर्य का चित्र कैसा स्पष्ट है।

कई लोग कदाचित् "उच्चरत्" में हम ने जो अन्तर्भावित ण्यर्थ लिया है उस पर आपत्ति करें तो उन के मत में तो "शुक्र" सूर्य का ही विशेषण है। इस लिए वह तो हमारे अर्थ के और भी समीप गया।

आगे चलकर ब्रह्मचारी आचार्य की परिक्रमा करके कहता है:--"**सर्यस्यावृतमन्वावर्ते**" अर्थात् मैं सूर्य की परिक्रमा में घूमता हूं। यहां आचार्य को भी सूर्य नाम से याद किया अर्थात् आचार्य भी उस के लिये वीर्य का प्रतिनिधि है। यदि कभी वह भी रक्षक के स्थान में भक्षक बने और उसे वीर्य रक्षा से डिगाने लगे तो वह कहता है कि मैं आपकी परिक्रमा तो नहीं करता। मैं तो सूर्य अर्थात् वीर्य की परिक्रमा करता हूं।

इस प्रकार सूर्य तथा द्यौः का अर्थ स्पष्ट हुआ।

अब इस रहस्य के समझ लेने में बहुत से मन्त्र कैसे स्पष्ट होते हैं यह भी देखना चाहिये।

यजुर्वेद प्रथमाध्याय का २८ मन्त्र है।

'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् उदादाय पृथिवीं जीवदानुं यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामनुदिश्य धीरासो यजन्ते"

उसकी व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

"देवा हवै संग्रामं संनिधास्यन्तस्ते होचुर्हन्त यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनं तच्चन्द्रमसि निदधामहै स यदि न इतोऽसुरा जयेयुस्तत एवार्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेम स यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनमासीत् तच्चन्द्रमसि न्यदधत् ।

(का० १ अ० २ ब्रा० ३ क १८)

"जब जब देवलोग युद्ध पर जाते हैं तो वे सोचते हैं कि इस पृथिवी का जो सारभूत देवयजन है उसे चन्द्रमा में रख देते हैं जिससे यदि हमें असुर परास्त करदें तो प्रभु का भजन करते हुए पुरुषार्थ के बल से फिर परास्त कर सकें। इसी लिये उन्होंने पृथिवी का सार चन्द्रमा में रख दिया।"

अब मन्त्र का अर्थ सुनियेः—

हे प्रभो! जब २ युद्ध आया तब तब क्रूर संग्राम से पहिले जिस जीवनदाता पृथिवी को अर्थात् पृथिवी के सार को देव लोगों ने चन्द्रमा में रख दिया उसी को लक्ष्य करके आज भी धीर लोग यज्ञ कर रहे हैं।

कुछ समझा आपने! अब सूर्य्य, चन्द्र और पृथिवी का जो अर्थ मैंने ऊपर वर्णन किया है उसे ध्यान में रख कर पढ़िये और सारा रहस्य खुल जावेगा। जब २ युद्ध आता है तब वे बुद्धिमान् लोग विजयी होते हैं जो आने वाली सन्तान

की रक्षा तथा सुशिक्षा का भी प्रबन्ध करके चलते हैं। क्योंकि वह जावन देने वाली माता का सार सन्तान में रखकर चलते हैं। युद्ध में जय-पराजय भाग्य के भी आधीन है। यदि दौर्भाग्य से परास्त भी हो जावे परन्तु सन्तान सुरक्षित हो तो समय पाकर शत्रु का विजय करनेवाली शक्ति फिर उदय होती है और उन्हें परास्त कर देती है।

वृत्रासुर

इन तीन शब्दों के समझ लेने से वृत्रासुर क्या है यह भी खूब समझ में आ जाता है। निरुक्त में वृत्र मेघ का नाम है। अब विचारिये कि भौतिक सूर्य का जो सम्बन्ध मेघ से है वह शरीर के सूर्य अर्थात् वीर्य का किससे है। उसी से वृत्र का अर्थ स्पष्ट हो जावेगा। देखिये शतपथ ब्राह्मण क्या कहता है–

वृत्र का अर्थ है भोग।

साथ ही वृत्र इन्द्र का शत्रु है, सो इन्द्र का अर्थ सूर्य है इसके भी प्रमाण लीजिये।

इन्द्र इति ह्येतमाचक्षते यएष तपति

(का. ४ अ. ६ ब्रा. ७ क. ११)

यह जो तपता है यह इन्द्र है।

अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः

(का. ८ अ. ५ ब्रा. ३ क. २)

यह जो इन्द्र है यही वह आदित्य है।

"(एकादश कपालं पुरोडाशं निरोपति) अथ यदिन्द्राय वृत्रघ्ने । पाप्मा वै वृत्रो यो भूतेर्वारायत्वा तिष्ठति कल्याणात्कर्मणः साधोः" पृ. ५४६

(का. ११ अ. १ ब्रा. ५ क. ७)

वृत्रघाती इन्द्र के लिये ११ कपालों का पुरोडाश बनाता है सो जो वृत्रघाती इन्द्र के लिये उसका तात्पर्य यह है कि वृत्र नाम पाप का है जो मनुष्य को ऐश्वर्य से, और कल्याण कारी शुभ कर्मों से हटा देता है।

इन्द्र नाम ऐश्वर्य वाले का है उसका सब से बड़ा शत्रु भोग है। परन्तु क्या वह सदा ही बुरा है? नहीं। शास्त्र में धर्मानुकूल भोग भी बताया है। गीता में कहा है—

"प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः" तथा **"धर्माविरुद्धोकामोऽस्मि" अर्थात् मैं सन्तानोत्पादक कामदेव हूं"** तथा "मैं धर्म से अविरुद्ध हूं"। शतपथ कहता है कि भोग केवल धर्मानुकूल ही नहीं धर्मरूप है।

"सहोवाच मानु मे प्रहार्षीस्त्वं वै तदेतर्ह्यसि यदहं व्यव मा बुद्ध मामुया भूवमिति सवै मे अन्नमेधीति तथेति तं द्वेधा अभिनत् तस्वयत्सोम्यंन्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकार यदस्यासूर्य्यमास ते नेमाः उदरेणाविध्यत.....यदिमाः प्रजा अशनमिच्छन्तेऽस्मा एव तद्वृत्रायोदशय बलिं हरन्ति।"

(का. १ अ. ६ ब्रा. २ क. १७)

वृत्र

वह वृत्र बोला बस मुझे और मत मार मैं इस समय वही तो हूं जो तू है। तू मेरा रूप बदल दे जिस में नष्ट न होजाऊं मेरे लिये अन्न बनादे। तब इन्द्र ने उस के दो टुकड़े कर दिये उसका जो सौम्य अंश था वह चन्द्र बना दिया तथा असुरांश से प्रजाओं पर पेट द्वारा प्रहार कर दिया तो यह जो प्रजा भोजन खाती है यह वृत्रासुर को बलि देती हैं।

यहां स्पष्ट है कि इन्द्र और वृत्र एक ही चीज हैं। ऐश्वर्य हो भोग बनता है और वही शक्ति है। फिर वह वृत्रासुर तब है जब वह ऐश्वर्य्य का नाश करे। उसके दो रूप ठीक हैं। एक चन्द्रमा अर्थात् सन्तान दूसरा भोजन। इन में से भी सन्तान स्पष्ट परोपकार का रूप होने से सौम्य है तथा भोजन संपूर्ण स्वार्थ का होने से असुर है। लोग जो भोजन करते हैं वृत्रासुर को कर (Tax) देते हैं। परन्तु सन्तान और भोजन ये दो भाग इन्द्र की मर्यादा के अनुकूल हैं।

"आपः"

वृत्र का शरीर जलमय है। शतपथ में लिखा है—

"वृत्रो हवा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदियमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। तस्मात् वृत्रो नाम। तामिन्द्रो जघान स हतः पूतिः सर्वतः एवापोभिः प्रसुस्राव।

(का० अ० १ ब्रा० ३ क० ४)

"वृत्र, द्यावापृथिवी के बीच में जो भाग है इस सब को घेर कर लेट गया क्योंकि उस ने सबका आवरण किया था इस लिये उस का नाम वृत्र है। उसको इन्द्र ने मारा। जब मरा वह दुर्गन्धित था और उसमें से चारों ओर "आप" निकल पड़ी।"

आपः कौन है ? शतपथ कहता है **"योषा वाऽआपो वृषा अग्निः"**,—(का० अ०१ ब्रा० क० २० ('स्त्रीआपः, है, सो भोग स्त्री रूप है।

यजुर्वेद का मन्त्र है—**युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्य्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्य्ये ।**

हे आपः ! तुमको वृत्र के साथ युद्ध करते समय इन्द्र ने सहाय रूपेण वरण किया और तुमने इन्द्र को वरण किया। अब साथ ही शतपथ कहता है कि वृत्र को मारा भी आपः ने।

एता उहीन्द्रमवृणत वृत्रेण स्वपर्धमानम् एताभिर्ह्येनमलम् । (क० अ० १ ब्रा० ३ क० ८)

इन्द्र के तथा वृत्र के युद्ध में सदा इन्होंने ही वृत्र को मारा है। सो यह बात क्या है इस का रहस्य भी शतपथ ही खोलता है—

तस्मादुहैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे ता उपर्युपर्यति प्रप्लुविरेऽत इमे दर्भास्ताहैता अनापूयिता आपोऽस्तिवा इतरासु संसृष्ट मिव यदेना वृत्रः

पूतिरभिप्रास्रवतदेतासामेताभ्यां पवित्राभ्यमपह-न्त्यथ मेध्याभिरद्भिः प्रोक्षति। (का० १ अ० १ ब्रा ३ क० ५)

बात क्या हुई ? यज्ञ में आहवनीय के उत्तर में प्रोक्षणी आपः (जल) रखी जाती हैं। उन्हें पहिले दर्भ से पवित्र करते हैं फिर उन से यज्ञ भूमि को छींटे देते हैं। यह सब क्या है। शतपथ कहता है कि जब वृत्र के शरीर से दुर्गन्ध युक्त आपः निकली, कुछ ऐसी भी थीं जो उस से बची रही और ऊपर ऊपर तैरती रही। इसी लिये उन के प्रतिनिधि रूपेण यहां दर्भ है। यह दर्भ दुर्गन्ध रहित जल का प्रतिनिधि है। इन से पवित्र हुई आपः यज्ञभूमि के प्रोक्षण में काम आती है। संसार में जब जब भोगवाद बढ़ा तब सब ही स्त्रियें उस में फंस नहीं गईं। कुछ ऐसी भी हुईं जो न पुरुषों को अपने भोग का साधन बनाना चाहती थीं न भोग का साधन बनना चाहती थीं। उन को इस से दुर्गन्ध आती थी इस लिए वे इस से दूर दूर बची रहीं। वे इस समुद्र पर तैरती रहीं। वे तप से ऐसी कठोर बनीं जैसे कुशा। उन्हीं से पवित्र की हुई अन्य स्त्रियां यज्ञ कर्म के योग्य हुईं। भाव स्पष्ट है-दर्भ के समान कठोर (Austere) भोग से घृणा करने वाली स्त्रियें स्त्री शिक्षा देने की अधिकारिणी हैं। वृत्र का शरीर खड़ा भी स्त्रियों के सहारे है, और इस को नष्ट भी करती हैं स्त्रियें ही, परन्तु कौनसी, जो दर्भ के समान तपः कठोर हों, भोग की दुर्गन्ध से

से दूर रहें तथा जो उन की संगति में पलें। स्त्रियें ही प्रमदा हैं और यही प्रमादा।

वृत्रासुर के प्रकरण में एक और मन्त्र उपस्थित करना असंगत न होगा।

वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असिचक्षुर्मेदेहि।

यह मन्त्र समावर्त्तन काल में जब ब्रह्मचारी को सुगन्ध माल्यादि सब भोग सामग्री दी जाती है, उस समय नेत्र में अञ्जन करते समय पढ़ा जाता है। हे अञ्जन! तू वृत्र का कनीनक है, भोग की आँखों का तारा है। देखना मुझे ऐसा भोगने में न फंसाना कि मेरी आँखें फूट जावें। तू उलटा मेरी आंखों की ज्योति को बढ़ाने वाला बन। वृत्र को कैसा काबू किया है?

व[illegible]णा

'वरुणसवो वा एष यद्राजसयम्।'

(का. ५ अ. ३ ब्रा. ४ क. १२)

राजसूय जो है यह वरुण सव है। इससे स्पष्ट है कि वरुण नाम राजा का है। एक स्थल और लीजिए--

'वरुणो वै देवानां राजा' (क.१२अ.८ब्रा.१क.१०)

परन्तु इतना कह देने मात्र से कि वरुण नाम राजा का है बात स्पष्ट नहीं होती। राजा किस विशेष गुण से वरुण कहलाता है, यह पता लगाना आवश्यक है।

'वरुण प्रघासै वैं प्रजापतिः प्रजा वरुण पाशात् प्रामुञ्चत्' (का० २ अ० ५ ब्रा० ३ क० १)

प्रजापति ने वरुण के पाश से प्रजाओं को वरुण प्रघास यज्ञ द्वारा मुक्त किया। यहां वरुण के पाशों का वर्णन है।

अब वह पाश किसे बांधते हैं ज़रा इसकी ओर ध्यान देने से और स्पष्टता आजायगी।

'वरुण्यं वा एनं स्त्री करोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरति' (२. ५. २. २०)

यदि स्त्री अन्य की होकर अन्य के साथ व्यभिचार करे, तो वह वरुण कर्म करती है।

'वरुणो वा एतं गृह्णाति यद् पाप्मना गृहीतो भवति'।

वरुण उसे पकड़ता है जिसे पाप पकड़ता है। अब पता लग गया कि वरुण के पाश किस के लिये हैं। इससे ज्ञात हुआ कि वरुण नाम Law and Order के उत्तरदाता Magistrate का है अर्थात् पोलीस विभाग के अध्यक्ष पद में राजा का नाम वरुण है। इसके प्रकाश में एक स्थल को देखिये कि अब उसमें क्या चमत्कार आ जाता है।

अथ पत्नीं सन्नह्यति. जघनार्धो वा यज्ञस्य पत्नी

रस्सी से पत्नी को बांधता है।

(का० १ अ० ३ ब्रा० ४ क० १२)

स वै ग्रन्थिं न कुर्यात् वरुण्यो वै ग्रन्थिर्वरुणोह

पत्नीं गृह्णीयाद्यदन्त ग्रन्थिं न करोति ।
(का० १ अ० ३ ब्रा० ४ क० १६)

वह वहां गांठ न बांधे क्योंकि गांठ वरुण के विभाग की चीज़ है। गांठ बांधने के यह अर्थ होंगे कि उसे वरुण ने बांध लिया।

अब यह क्रिया कितनी सुन्दर हो गई—

पत्नी यज्ञ में बंधी हुई है, वह यज्ञ का आधा भाग है, उसके बिना यज्ञ अधूरा है। परन्तु उसे अपने साथ लाने के लिये दण्ड प्रयोग अनुचित उपाय है। पति है, थानेदार नहीं। पत्नी है, कैदी नहीं। इसी लिये रस्सी से बांधते समय गांठ नहीं बांधी जाती, वह बिना गांठ के बन्धन में बंधो है। यह वह बन्धन है जिस के लिये कवि ने कहा है—

'बन्धनानिखलु सन्ति बहूनि, प्रीतिरज्जुकृत बन्धनमन्यत्। दारुभेदनिपुणोऽपि मिलिन्दः पङ्कजे भवति कोषनिबद्धः ॥

इस प्रसङ्ग में अथर्ववेद का एक सूक्त अनुल्लंघनीय प्रतीत होता है वह भी लीजिए—

'यस्तिष्ठति यश्च वञ्चति योनिलायं चरति यः प्रतङ्कम। द्वौ सन्निषद्य यन्मंत्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः॥' (अ० ४ का० ४ सूक्त १६ मं २)

'उत यो द्यामति सर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै

वरुणस्य सद्मः । दिव स्पशःप्रचरन्ती दमस्य सहस्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम्' ॥ अ० ४ का ४ सूक्त १६ मं २०)

जो खड़ा है, जो चल रहा, जो छिप कर व्यवहार करता है, जो खुला व्यवहार करता है, जहां दो बैठ कर गुप्त बात करते हैं, राजा वरुण उन सबको जानता है।

किस प्रकार

जो द्यौः से परे भी चला जाय राजा वरुण से वह भी नहीं छूट पाता। उस के गुप्तचर रूपी अनेकानेक आंखें द्यौः और भूमि से परे का पता लाती हैं।

यहां परमेश्वर के दृष्टान्त से राजा को वरुण धर्म्म का जो उपदेश दिया गया है उस से वरुण का अर्थ स्पष्ट है।

अब प्रश्न उठ सकता है कि ऋषि दयानन्द तो सूर्य चन्द्र आदि शब्दों को परमेश्वर के प्रर्यायवाची मानते हैं। इस विषय में हमारा कथन यह है कि सूर्य चन्द्रादि में जितने गुण हैं वह सब परमात्मा के नाम तो हैं ही परन्तु वे गुण थोड़े अंश में जिन पदार्थों में देखने में आते हैं उनके भी वही नाम हैं। उदाहरण के लिये वैदिक राजा का आदर्श परमेश्वर है। राजा का धर्म है कि परमेश्वर के गुण अपने में लाने का यत्न करे। इन्द्र, वरुण, यम, प्रजापति, सविता आदि परमात्मा के नाम हैं इसी प्रकार सूर्य नाम परमात्मा का है क्यों कि वह सब शक्तियों का अभिसरणीय (Centre) है। समाज में राजा का वही

स्थान है। मानसिक संसार में ज्ञान का, भौतिक संसार में सूर्य का और स्थूल शरीर में वीर्य का है।

महासृष्टि में परब्रह्म के जिस विशेष गुण के कारण उस का जो नाम पड़ा है, छोटी सृष्टियों में उस गुणवाला जो पदार्थ है उस का भी वहीं नाम है। हां उसके साथ परम शब्द लगा हुआ है। यह आवश्यक नहीं कि यह परम शब्द इस स्थान पर लगा हुआ हो किंतु जहां नहीं वहां भी अध्यहार कर लेना चाहिये हम आत्मा हैं, वह परमात्मा है। हम पुरुष हैं, वह परमपुरुष है। हम कवि हैं, वह परमकवि है। हम अपने घर में प्रजापति हैं, राजा राज्य में प्रजापति है, वह परम प्रजापति है। अब प्रश्न यह होता हैं कि जहां २ यह शब्द आवें वहां इस अर्थ माला में से कौन सा अर्थ लिया जावे। इस विषय में हमारा उत्तर है, कि इस का नियामक मंत्र लिङ्ग है। यद्यपि व्यंजना से यह सब ही अर्थ वहां लग सकते हैं परन्तु तो भी कोई न कोई विशेषण ऐसा पड़ा होता है जो इस माला में से एक अर्थ को मुख्यता दे देता है। जैसे तत् चक्षुः इस मंत्रमें तत् और पश्येम भौतिक सूर्य की मुख्यता के द्योतक हैं। फिर आप कहेंगे कि सूर्य का वीर्य अर्थ कहां से निकला तो यह चक्षु (व्याख्याता) यही तो कहने आया है।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि 'योषां वै आपः' से यदि 'आप' का अर्थ स्त्री जाति ऐसा अर्थ लिया जावे तब तो

शतपथ में न मालूम जिन स्थलों में स्त्री लिंग शब्द आये हैं उन में से कितनों को योषा कहा है क्या वह सब स्त्री जाति के वाचक हैं ? इस का उत्तर मैं हाँ में देता हूं । शतपथ में जहां २ किसी स्त्री लिंग के साथ योषा कहा है वहां स्त्री जाति के ही किसी गुण को बताने वाला स्त्री लिंग नाम है । 'आप' स्त्री जाति के शान्ति गुण का द्योतक है। पृथिवी उत्पादकत्व तथा क्षमा का द्योतक है । वेदि की रचना में स्त्री की व्यायामादि द्वारा आदर्श शारीरिक बनावट कैसी होनी चाहिये यह दर्शाया है, इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना ।

अब एक प्रश्न उठता है कि स्त्री जाति में शांति गुण होना चाहिये ऐसा स्पष्ट न कह कर 'आपः' इस श्लेष द्वारा क्यों स्त्री जाति के शांति गुण का वर्णन किया ! इस आलंकारिक भाषा में बोलने का क्या प्रयोजन ? इस का उत्तर पुरुष सूक्त से मिलता है । वेद सब विद्याओं का भंडार है अतः उसमें थोड़े में अनेक विद्याओं का वर्णन इसी प्रकार किया है जिस प्रकार मुख एक संगठन का पुर्जा है ब्राह्मण में क्या २ गुण होने चाहिएं यह एक एक करके गिनाना कठिन है, किंतु शरीर रूपी संगठन के जिस पुर्जे अर्थात् मुख से ब्राह्मण का मेल है उस एक का नाम लेने से ब्राह्मण के सब गुण आगए । मुख शीतोष्ण सुख दुःखादि सब द्वन्दों को सहारता है इसलिए यह तपस्वी है । आहार की परीक्षा करके उसे पचाने योग्य वना कर पेटके अर्पण कर देता है इस लिए त्यागी है । समस्त

ज्ञान चेष्टा का भंडार है तथा वाणी द्वारा मार्ग दर्शक है। ब्राह्मण के यह तप-त्याग ज्ञान तथा प्रकाशन चारों गुण मुख के दृष्टांत से वेद ने किस सुगमता से बता दिये, यही नहीं ब्राह्मण का समाज में क्या स्थान होना चाहिए यह भी बतादिया और यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचारा जाय तो न मालूम ब्राह्मणके कितने गुण इस दृष्टांतमें बता दियेगये जो एक एक करके गिनानेमें कदाचित् एक ग्रन्थ का रूप ग्रहण कर लेते। संसार में मनुष्य शरीर सब से विलक्षण यंत्र है। इसके एक एक अङ्ग में कितने रहस्य हैं जब इसकी किसी से उपमा दी जाय तो वह सब रहस्य उस अङ्ग का नाम मात्र से दूसरे संगठन में भी बता दिये गये। इसी लिए पुरुष सूक्त में अनेक प्रकार के सङ्गठनों का वर्णन है। प्रश्न होता है 'यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्' अर्थात् पुरुष के निर्माण में कितने प्रकार के पुरुष की कल्पना की जाती है? उत्तर में एक समाज पुरुष बताया दूसरा सूर्य्य सृष्टि रूप पुरुष बताया तथा कह दिया कि इसी प्रकार अन्य कल्पना भी हो सकती है। सच तो यह है कि पुरुष के दृष्टांत से जहां २ जितना मेल है वहां संगठन के उतने रहस्य खुल सकते हैं। यंत्र शास्त्र का भी यही रहस्य है।

संज्ञपन और आवदान

आलम्भन, संज्ञपन और अवदान इन तीन शब्दों ने मीमांसा साहित्य में जितना अनर्थ मचाया है उतना कदाचित् ही किन्हीं अन्य शब्दों ने मचाया हो। इन्हीं शब्दों के कारण श्रौत यज्ञों की यज्ञशाला यज्ञशाला नहीं प्रतीत होती किन्तु एक अच्छा खास सौनिकागा दीख पड़ती है। समय समय पर भवभूति कालि दासादि कवि "मया पुनर्ज्ञातं कोऽपि व्याघ्र इति" "पशु मारण कर्म दारुणोऽप्यनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रियः" आदि शब्दों में इस वात पर दबी चोट भी करते रहते हैं। चार्वाक तो बिलकुल स्पष्ट ही बोल उठाः—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते॥

पर यदि गम्भीर दृष्टि से देखें तो बहुत अंशों तक इस नृशंस काण्ड का आधार इन्हीं तीन शब्दों पर है। आज हमारा विचार इन में से 'संज्ञपन' और 'अवदान' पर कुछ प्रकाश डालने का है।

पहिले संज्ञपन् को लीजिये। यह शब्द सं पूर्वक णिजन्त ज्ञा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर बनता है। 'देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते' आदि शतशः। प्रमाणों से सिद्ध है कि संपूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ परिचय, प्रेम, सम्भूयज्ञान आदि हैं, कहीं भी हिंसा नहीं। फिर पता नहीं चलता कि

णिच् तथा ल्युट् प्रत्ययों ने इस में क्या वैचित्र्य उत्पन्न कर दिया जो इस का अर्थ एक दम हिंसा हो गया? अस्तु अब देखना चाहिए वेद तथा वैदिक साहित्य में णिच् तथा ल्युट् प्रत्ययान्त प्रयोग भी किस अर्थ में आया है।

विचित्र बात है कि प्रयोग भी मांस लोलुप, मांसलप्रज्ञ मीमांसकापसदों के पक्ष को समर्थन नहीं करता। लीजिये, चारों वेदों मे संज्ञपन शब्द णिजन्त तथा ल्युट् प्रत्यान्त रूप में केवल एक स्थान पर अर्थव वेद आया है। मन्त्र यों हैं—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता
सं वोऽयंब्रह्मणस्पतिर्भगः संवो अजीगमत्
संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः
यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः। एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान् संमनसस्कृधीह॥

अथर्व ६ काण्ड ७४ सू०-३ मन्त्र

इस प्रकरण में "संपृच्यन्तां" "समजीगमत्" संबभूवुः" "संमनसस्कृधि" यह संगठन की मुहारनी प्रबल साहचर्य्य के बल से संज्ञपन के अर्थ पर क्या प्रकाश डाल रही है इसे सहृदय लोग अनुभव करें। संस्कृतानभिज्ञ पाठकों के लिये हम केवल तीन मन्त्रों का अनुवाद और देते हैं।

विद्वान् उपदेश करता है:—

"तुम्हारे शरीर सम्पृक्त (आपस में खूब मिले हुए) हों। मन सम्पृक्त हों व्रत सम्पृक्त हों। उस ब्रह्मणस्पति कल्याण स्वरूप प्रभु ने तुम्हें इकट्ठा किया है। तुम्हारे मनों में मिलकर ज्ञान उत्पन्न हो। हृदयों में प्रेम हो। प्रभु के नाम पर किये श्रम से मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्राप्त कराता हूं" फिर वही विद्वान् प्रभु से प्रार्थना करता है:—

"जिस प्रकार आदित्य (ब्रह्मचारी) वसुओं से, जिस प्रकार क्षत्रिय वैश्यों से निस्संकोच मिलते हैं उसी प्रकार हे भूर्भुव स्वः अथवा अ उ म तीन नाम वाले प्रभो! आप इन सब मनुष्यों को एक मन कर दीजिये।" यह हुआ एक संज्ञपन। अब शतपथ का भी उदाहरण लीजिये—

"अथातो मनसश्चैव वाचश्च। अहम्भद्र उदितं मनश्च ह वै वाक्चाहम्भद्र ऊहाते तद्ध मन उवाच अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि न वै त्वया त्वं किञ्चनान-भिगतं वदसि। सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्मा स्यहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति। ६ अथ ह वा वागुवाच अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थाह तद्विज्ञ-पयाम्यहं संज्ञपयामीति॥"

शतपथ कां० १ अ० ।४

अब मन वाणी के झगड़े का हाल सुनो। एक वार मन और वाणी में "मैं बड़ा" "मैं बड़ी" हो पड़ी सो मन बोला—मैं बड़ा। भला तू कौनसी बात बोलती है जो मैं नहीं

जानता। बस तू मेरा काम करने वाली मेरी अनुचरी है, मैं तुझ से बड़ा हूं। वाणी बोली बड़ी तो मैं ही हूं। तुझे तो केवल ज्ञान ही ज्ञान है पर वह ज्ञान किस काम का। 'आप को कुछ ज्ञान है' यह ज्ञान लोगों को तो मेरे द्वारा ही होता है। जो आप को ज्ञान है वह मैंही प्रकाशित करती हूं और हृदयङ्गम कराती हूं।

क्या यहां भी संज्ञापयामि के अर्थ के विषय में किसी दिवान्ध को सन्देह हो सकता है ?

अब ज़रा उन प्रकरणों को लीजिये जहां संज्ञपन का अर्थ काटना लिया जाता है। उदाहरणार्थ अग्नीषोम के प्रकरण में संज्ञपन का अर्थ बकरे को काटना किया जाता है। प्रथम तो संज्ञपन का अर्थ हिंसा है ही नहीं; और यदि कथाञ्चित् दुर्जन तोष न्याय से यह अर्थ स्वीकार भी करलें तो भी कम से कम इतना तो हम ऊपर व्याकरण तथा प्रकरण के बल से निर्विवाद रूपेण सिद्ध कर ही चुके हैं कि संज्ञपन का अर्थ सम्यग्ज्ञान कराना भी है। ऐसी अवस्था में यदि यह भी मानलें कि इस शब्द के हिंसा तथा सम्यक् ज्ञान कराना दोनों अर्थ हैं तो भी 'सैन्धवमानय' की तरह जो अर्थ प्रकरण सङ्गत होगा वही मानना पड़ेगा। अग्नीषोम में पशु संज्ञपन के पश्चात् 'वाचं ते शुन्धामि······चरित्राँस्ते शुन्धामि यजु······वाक आप्यायताम्' आदि जितने शब्द पड़े हैं सब सम्यग्ज्ञान के अधिक अनुकूल हैं और हिंसार्थ के सर्वथा प्रतिकूल हैं। चरि-

त्राँस्ते शुन्धामि (तेरे चरित्र सुधारता हूं) की संगति पशु प्रकृति मूढ़, बालकादि को सम्यग्ज्ञान कराने में ही हो सकती है न कि छागवध में।

इसी प्रकार अश्वमेध प्रकरण में वाक्य आता है— 'एष वा स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति'। इसका अर्थ पौराणिक लोग करते हैं कि अश्वमेध में जिस स्थान पर अश्व का वध करते हैं उस स्थान का नाम स्वर्ग लोक है। क्यों न हो ? वहीं उसी स्वर्ग लोक में कपड़ा तान कर फिर घोड़े और राज महिषी का समागम कराया जाता है। इन निर्लज्जों को इस प्रकार वेद की हत्या करने में तनिक भी सङ्कोच नहीं होता।

अब इस शब्द का दूसरा (हमारी सम्मतिमें एकमात्र) अर्थ लीजिये तो कितना सुसंगत है। 'वही स्थान स्वर्ग लोक है जहां मूढ़ पशु भाव के लोगों को सुशिक्षित किया जाता है। अश्वमेध के लिये स्पष्ट ही कहा है 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'। यही वाक्य उद्धृत कर के यही अर्थ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में ऋषि दयानन्द ने किया है। धन्य है उस वेदोद्धारक ऋषि को जिस ने इन पामरों के अविद्या जाल को इस प्रकार छिन्न भिन्न कर दिया।

अब कहा जा सकता है कि विधि वाक्य के बलवान् होने के कारण 'शुन्धामि' यह मंत्र लिंग कुछ काम नहीं दे सकता। सो यह बात भी उपहसनीय है। क्यों कि यहां विधि-वाक्य तथा मंत्र लिंग का विरोध नहीं किंतु विधिवाक्य के

अर्थ निर्णय में विवाद है। ऐसे समय में मन्त्र लिंग के प्राबल्य को कोई पण्डित पुंगव दुर्बल कहने का अधिकार नहीं रखता हां यदि विधि वाक्य का अर्थ अन्यथा निर्णीत हो जाता तो मंत्र लिंग अवश्य कुछ दुर्बल हो जाता। किंतु इस समय तो वह वज्र की भांतिवादियों के दुर्ग को भूमिसात् कर रहा है। अब लीजिये अवदान को-यह शब्द 'डुदाञ्दाने' 'दो अवखण्डने' 'देञ् रक्षणे' आदि अनेक धातुओं से सिद्ध होता है तथा यज्ञ में भिन्न भिन्न देवता निमित्तक हवि के लिये प्रयुक्त होता है। अब इस को वर्तमान मीमांसक लोग 'दो अवखण्डने' से सिद्ध करते हैं अर्थात् पशु के हृदय पाद नासिका जिह्वादि वह भाग जो भिन्न भिन्न देवताओं के लिये खण्डित करके (काट कर) रखे जाते हैं'। हविः के लिये वार वार शब्द भी आता है "अवद्यति" और यह निस्सन्देह दो अवखण्डने का रूप है। क्यों कि इस में श्यन् विकरण पड़ा है जो दैवादिक दो अव-खण्डने का निर्धारक है। किंतु यह मीमांसक भद्र पुरुष इस वाक्य को न मालूम क्यों भूल जाते हैं? शतपथ ब्राह्मण ने इस समानरूपता मूलक भ्रम के निवारणार्थ ही लिखा है—

" ऋणँ्ँह वै जायते योस्ति। स जायमान एव देवेभ्य ऋणिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यो। स यदेव यजेत तेन देवेभ्य ऋणं जायते। तद्धयेभ्य एतत् करोति यदेनान्यजते यदेभ्यो जुहोति ॥२॥ अथ यदेवानुब्रुवीत तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्

करोत्यृषीणान्निधिगोप इत्यनचानमाहुः ॥ ३ ॥ अथ यदेव प्रजामिच्छेत् । तेन पितृभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोति यदेषां ꣳ सन्ततोऽव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति । अथ यदेव वासयेत । तेन मनुष्येभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोति यदेनान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य एतानि सर्व्वाणि करोति स कृत कर्म्मा तस्य सर्वमाप्तꣳ सर्व्वं जितꣳ स येन देवेभ्य ऋणं जायते तदेनांऽतदवदयते यद्यजतेऽथ यदग्नौ जुहोति तदेनांस्तदवदयते तस्माद्यत्किंचनाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम"

(शतपथ कां. १ अध्याय ७)

इस सन्दर्भ में "तदेनाँस्तदवदयते" यह भाग अत्यन्त ध्यान देने योग्य है। यह प्रयोग देङ् रक्षणे धातु का है, जिस से स्पष्ट है कि अवदान शब्द में दो अवखण्डने का भ्रम न हो। इस लिये महर्षि याज्ञवल्क्य स्पष्ट कह रहे हैं कि आहुतियों का नाम अवदान इस लिये है क्योंकि वह रक्षा करती हैं (ऋण के बन्धन से बचाती है) फिर न मालूम मीमांसक लोग यहाँ दो अवखण्डने का प्रयोग क्यों बताते रहे ?

अब तो केवल इतना कर्त्तव्य शेष है कि इस सन्दर्भ का अनुवाद कर दिया जाय। सो यों है:—

"पुरुष जन्म लेते ही ऋणी पैदा होता है वह जन्म

लेते ही चार का ऋणी होता है देवताओं का, ऋषिओं का, पितरों का और मनुष्यों का। सो मनुष्य जो यज्ञ करता है सो देवताओंसे ऋणी होता है। सो जो यज्ञ करता है जो आहुति देता है सो उन के निमित्त। जो दूसरों को पढ़ाता है सो ऋषियों का ऋणी होता है सो उन के निमित्त पढ़ाता है। इसी लिये अध्यापक को ऋषियों का निधिरक्षक कहते हैं। और जो सन्तान की इच्छा करे, सो पितरों का ऋणी होता है जो उनके निमित्त करता है जिस से उन की संतान-परंपरा टूटने नहीं पाती। जो घर में अतिथियों को बसाता है सो मनुष्य मात्र का ऋणी होता है सो यह उन के निमित्त करता है जो उन को घर में विश्राम देता है उन्हें भोजन कराता है सो जो यह सब कर्म करता हो वही कृतकर्मा है। उस ने सब कुछ पा लिया, सब कुछ जीत लिया क्योंकि देवों का ऋणी होता है। सो जो यज्ञ करता है वह यज्ञ (संगठन) और आहुति उस को रक्षा करते हैं। इस लिये इस रक्षा करने के कारण जो कुछ आहुतियें अग्नि में की जाती हैं उन सब का नाम अवदान है।"

नहीं मालूम कि इस से अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या उपस्थित किया जा सकता है ?

अब तक मैं इतनी स्थापनायें सोपपत्तिक उपस्थित कर चुका हूं—

(१) ग्रंथ का उपज्ञाता याज्ञवल्क्य है। उपनिबन्धक याज्ञवल्क्य का कोई अज्ञात शिष्य विशेष है।

(२) ब्राह्मण पौरुषेय है—यज्ञ व्याख्यान होने के कारण वेदव्याख्यान हैं।

(३) यज्ञ नाटक हैं अर्थात् यज्ञ मुख्यार्थ समुदाय के स्वार्थ को लक्ष्य कर के कार्य करना हैं, तथा पूर्ण मासादि अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ इस सभा को सदेह करने वाले रूपक हैं।

(४) तदनुसार निम्न लिखित शब्दों के अर्थ इस प्रकार होंगे—

क, सूर्य का अर्थ वीर्य।

ख. चन्द्र का अर्थ सन्तान।

ग. पृथ्वी का अर्थ माता।

घ. वृष का अर्थ भोग।

ङ. आप का अर्थ स्त्रियें।

च. वरुण का अर्थ राष्ट्र में नियन्त्रण करने वाले अधिकारी वर्ग का अधिष्ठाता।

छ. संज्ञपन का अर्थ सुशिक्षा देना।

ज. अवदान का अर्थ रक्षा करना।

(४) व्यवस्थितार्थ पदों के सहारे अव्यवस्थितार्थ पदों के निर्णय करने की पद्धति।

आज के व्याख्यान में मैं पूर्ण मास यज्ञ का रूप आप के सामने रखूंगा। किन्तु आगे बढ़ने से पहिले मैं विषय के दो प्रमाण और उपस्थित कर देना चाहता हूं कि यज्ञों का मुख्य

उद्देश्य आत्म-संस्कार है तथा उन का क्रिया कलाप उस के मुकाबले में अतिगौण स्थिति रखता है।

तदाहुः आत्मयाजी श्रेया३न् देवयाजी ३ इति। आत्मयाजी इति ३ ब्रूयात् सह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इदं मेऽनेनांगे उपधीयत इति। स यथाहिस्त्वचोनिर्मुच्येतैवमस्मान् मर्त्याच्छरीरात् पाप्मनो निर्मुच्यते स ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयः आहुतिमयः स्वर्गं लोकमभिसंभवति। कां. ११ अा. २ ब्रा. २ क. १३।

आत्म संस्कार यज्ञ का उद्देश्य है

"सो प्रश्न उठाते हैं कि आत्मयाजी बड़ा होता है अथवा क्रियाकलाप में रत रहने वाला, उस समय यही उत्तर देना चाहिये, कि आत्मयाजी जो जानता है कि उस से मेरा इतना अंग संस्कृत होता है, इतना अङ्ग सुव्यवस्थित होता है, सो जिस प्रकार सांप कैंचुली से निकल जाता है, इस प्रकार इस कमबख्त मरण धर्मा शरीर से मुक्त होकर ऋङ्मय, यजुर्मय, साममय और आहुतिमय होकर स्वर्ग लोक में स्थिति कर लेता है।"

मैंने इस सन्दर्भ का अर्थ करते समय देवयाजी का अर्थ "क्रिया कलाप में रत रहने वाला" किया है। उसका कारण यह है कि वहां यह शब्द आत्मयाजी के विरोधी के रूप में

आया है। साथ ही इसका अर्थ कहीं यह न समझा जाय कि वह मर कर स्वर्ग में जाता है, इस लिये सांप का दृष्टान्त दिया गया है। सांप जीते जी कैंचुली बदलता है, मर कर नहीं। इस सन्दर्भ से स्पष्ट पता चलता है यज्ञ में देवयाजी का, सिर्फ क्रियाकलाप में ही रत रहने वाले का, कोई महत्व नहीं है-उसे यज्ञ का वास्तविक लाभ नहीं मिलता। महत्व उसी का है जो आत्मयाजी है, यज्ञ गत क्रियाकलाप के वास्तविक रहस्य को समझ कर अपने आत्मा की उन्नति करता है। क्रियाकलाप की गौणता का—इस के नाटक मात्र होने का, एक और प्रमाण लीजिये।

"वाग्घवा एतस्याग्निहोत्रस्याग्निहोत्री। मन एव वत्सः तदिदं मनश्वाक्च समानमेव सन्नानेव। तस्मात् समान्या राज्वा वत्सं च मातरं चाभिदधाति तेज एव श्रद्धा सत्य माज्यम् तद्धैतत् जनको वैदेहः याज्ञवल्क्य पप्रच्छ वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्या ३ इति वेद साम्राडिति किमिति पय एवेति। यत् पयो न स्यात् केन जुहुया इति' व्रीहि यवाभ्यामिति। यद् व्रीहि यवौ न स्यात् केन जुहुया इति या अन्या ओषधय इति। यदन्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति। या आरण्य ओषधय इति। यद्यारण्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति, वान-

स्पत्यैनेति । यद् वानस्पत्यं न स्यात् केन जुहुया इति, अद्भिरिति । यदापोन स्युः केन जुहुया इति, स होवाच न वा किं तर्हि किंचनासीत् अथैतम् अहूयतैव सत्यंश्रद्धायामिति । वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञ-वल्क्य धेनुशतं ददामिति होवाच । का० ११ अ० ३ ब्रा ४ क १ ५

"अर्थात् इस अग्निहोत्र की वाणी गौ है; मन बछड़ा है। मन और वाणी वस्तुतः एक होकर भी दो से हैं। इस लिये एक से ही रस्सी में गाय और बछड़ा सम्भाले जाते हैं। श्रद्धा अग्नि सत्य घृत है। इसी पर जनक वैदेह ने एक वार याज्ञवल्क्य से पूछा याज्ञवल्क्य ! अग्निहोत्र का तत्व जानते हो। याज्ञवल्क्ए बोले हां जानता हूं क्या है ! दूध । यदि न हो तब आप किससे हवन करें ? धान और जौ से। यदि धान और जौ न हों तब। जो कोई अनाज मिल जाये उससे। यदि कोई अनाज न मिले तब जंगली अनाज से। यदि जंगली अनाज भी न मिले ? जो कोई वान-स्पत्य फल फूल मिल जाय उससे। वानस्पत्य फल-न मिल सकें ? तो जल से। जल भी न मिले तब ? इस पर वे बोले कि जब कुछ भी न था तब भी हवन किया ही जाता था। यह सत्य का श्रद्धा में हवन है। जनक बोले याज्ञवल्क्य आप अग्निहोत्र का मर्म जानते हैं। यह सौ गाय भेंट हैं।" यह

सन्दर्भ कितना मार्मिक है। मानों याज्ञवल्क्य कह रहे हैं, कि यदि समुद्र में एक नाव में जनक, याज्ञवल्क्य, श्रीमान् दूध जी महाराज, महाशय व्रीहि यव, श्रीयुत अनाज, श्रीयुत जंगली अनाज, श्रीयुत वानस्पत्य, महाशय जल, माननीय सत्यदेव श्रीमती श्रद्धा देवीजी बिराजमान हों। समुद्र में ज़ोर का तूफान आजाय, नाव का नायक कहने लगे कि तूफान ज़ोर का है, बोझ हलका करना चाहिये तो सब से पहिले महाशय जल को डूबना पड़ेगा, फिर वानस्पत्य जी को धक्का दिया जायगा; फिर जंगली अनाज की बारी आवेगी फिर दूसरे अनाज की, पुनः व्रीहि यव की पश्चात दूध महाराज की, हर हालत में श्रीमान् सत्यदेव जी तथा श्रीमती श्रद्धा देवी जी की रक्षा अवश्य करनी है—उन्हे जरूर बचाना है। मानों अव्यक्त शब्दों में याज्ञवल्क्य कह रहे हैं कि इससे आगे भी यदि चुनाव की आवश्यकता पड़ी तो मैं और जनक समुद्र में टूट पड़ेंगे। अब आप समझ गये होंगे, कि यज्ञ में मुख्य स्थान किस का है, और यज्ञ सामग्री तथा क्रिया कलाप की क्या स्थिति है। और लीजिये।

तदप्येते श्लोकाः किं स्विद् विद्वान् प्रवसत्यग्निहोत्री गृहेभ्यः कथं स्विदस्य काव्यं कथं सन्ततो अग्निभिरिति। कथं स्विदस्यानपप्रोषितं भवतीत्येवैतवाह"

यो जविष्ठो भुवनेषु सविद्वन् प्रवसन् विदे तथा तदस्य काव्यं तथा सन्तती अग्निभिरिति मन एवै-तदाह मनसैवास्यानपप्रोषितं भवतीति ॥" का ११ अ० ३ वा० ४ क० ५-६

किसी प्राचीन आचार्य के ये श्लोक उपर्युक्त प्रकरण में ही उद्धृत किये गये हैं जिनका अर्थ यह है कि "जब कोई अग्नि होत्री विद्वान् परदेश प्रवास में चला जाय तो उसके काव्य की क्या हालत होती है—उसकी अग्नि किस प्रकार अव्यव-च्छिन्न रहती हैं; सो इसका अर्थ यही है कि प्रवास में वह किस प्रकार अप्रोषित रहता है जो संसार में तीव्र गामी है वह विद्वान् उसकी ज्ञान में सहायता करता है। इस प्रकार उसका काव्य बना रहता है। उसकी अग्नि अटूट रहती है। सो यह मन की ओर इशारा है। अग्नि होत्री एक काव्य है, अग्नि काव्य का अंग। इस में आपको उपर्युक्त श्लोक सुनने के वाद कोई संदेह न रहना चाहिये। साथ ही यह भी न भूलिये कि इस नाटक की मुख्य रंगशाला मन है।

आइये अब इस काव्यमाला की सैर करें।

पौर्णमास

सब से पहिला दृश्यकाव्य, पौर्णमास है। पौर्णमास से पहिले मैं यज्ञ नाटक की रचना के विषय में कुछ सामान्य नियम रखना चाहता हूं। यज्ञों की रचना पुरुष के संस्कार के लिये हुई है। पौर्णमास में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों प्रकार के संस्कार किये गये हैं इस लिये यह सामान्य यज्ञ है किन्तु आगे चल कर विशेष यज्ञ भी बताए गये हैं जिस प्रकार वाजपेय प्रकरण में लिखा है।

स वा एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञः। यदेनेन बृहस्पतिरयजत ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्म हि ब्राह्मणोऽथो राजन्यस्य यदेनेन्द्रोऽयजत क्षत्रं हीन्द्रः क्षत्रं राजन्यः। राज्ञ एव राजसूयम्। (२६५)

सो यह वाजपेय यज्ञ ब्राह्मण का ही है क्योंकि इस से बृहस्पति ने यज्ञ किया। बृहस्पति ब्रह्म है। ब्राह्मण तो ब्राह्मण है ही। अथवा क्षत्रिय भी कर सकता है क्योंकि इन्द्र ने भी यह यज्ञ किया इन्द्र क्षत्रिय है राजसूय केवल राजा का है।

इस प्रकार आप ने देखा कि वाजपेय मुख्यतया ब्राह्मण का संस्कार तथा राजसूय केवल राजा का संस्कार बताने वाला यज्ञ।

यह मैं ऊपर बता चुका हूं कि संस्कार मन का तथा अङ्गों का करना है। अब जो जो भाव जिस प्रकार के यज्ञ में

उसके संस्करणीय पुरुषों के संस्कार में उपकारक हैं वही यज्ञ में देव शब्द से पुकारे जाते हैं। फिर उनमें जो मुख्य गौण भाव है वह भी उन देवों द्वारा तथा बार बार नाम लेने न लेने द्वारा दिखाया जाता है। मुख्य देव का नाम अनेक बार आता है गौण का एक बार ही। इस प्रकार कहीं उच्चासन तथा आतिथ्य द्वारा उसकी मुख्यता दिखाई गई है जैसे सोम योग में।

देव नाम मानसिक भावों का है यह मैं ऊपर भी स्पष्ट कर चुका हूं। यहां प्रकृत यज्ञ पौर्णमास में भी लीजिये।

मनो हवै देवा मनुष्यस्या जानन्ति..........
ते तस्य गृहेषूपवसन्ति। (१)
(का० १ अ० १ ब्रा० १ क० ७)

यज्ञ करने की इच्छा वाले के मन में देव आते हैं वह उसके घर में निवास करते हैं। इसी लिये उस दिन "**स वा आरण्यमेवाश्नुयात्**" [का. १ अ. १ ब्रा. १ क. १०) साधारण भोजन करे। क्योंकि जिसके घर अतिथि आते हैं वह स्वादु भोजन पाक विशेष उन्हें खिला कर खाता है।

यह सब पवित्र भाव यदि स्वतन्त्र रूपेण उसके मन में आ बैठें तब तक वह यज्ञ नहीं जब तक उनमें गौण मुख्य भाव शिष्य शासक भाव स्थापन न हो जाय तब तक यज्ञ नहीं होता।

इसी लिये हविः फलीकरण (शोधन) के प्रकरण में कहा है—

तद्धैके देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वमिति फलीकुर्वन्ति तदु तथा न कुर्यात् । आदिष्टं वा एतद्देवतायै हविर्भवत्यथैतद्धैश्व देवं करोति यदाह देवेभ्यः शुन्धध्वमिति । तत्समदं करोति । (८)।

(का० १ अ० १ ब्रा० १ क० २४)

सो कई लोग "देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वम्" ऐसा कह कर फलीकरण करते हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए। व्रीही ग्रहण करते समय ही हवि एक देव विशेष के नाम समर्पित हो चुकता है। फिर यहां "देवों" के लिये शुद्ध करो ऐसा कहने से तो यह देव मात्र के लिये हो गया यह तो गड़बड़ करता है। यह तो हुई देव विशेष की बात। परन्तु दो भाव यज्ञ मात्र के सामान्य अङ्ग हैं। एक तो समुदाय प्रणिधान दूसरा सन्तान का सुधार सो इन में से भी सन्तान के लिये स्त्री पुरुष के परस्पर समर्पण द्वारा पहिले भाव के भी दूसरे में अन्तर्गत होने के कारण मिथुनं वै प्रजननं क्रियते की आवृत्ति न मालूम शतपथ में कितनी वार हुई है। यदि महात्मा गांधी के आश्रम में झण्डे पर चर्खे का चित्र बना हुआ है तो याज्ञवल्क्याश्रम के झण्डे पर जननी बच्चे को गोद में लिये बैठी है और पिता मस्त होकर कह रहा है हे मनुष्य समाज देव

सविता की आज्ञा से अश्विनी की भुजाओं से पूषा के हाथों से यह भेंट आपकी सेवा में लाया हूं **भूतायैनं नारातये समर्पयामि** (का० १ अ० १ ब्रा० २ क०२०) यह सर्वभूत हित के अर्पण है। मैंने घर में दबा रखने और अपने आराम के लिये इसे प्रसन्न नहीं किया।

अब पौर्णमास यज्ञ को लीजिये। यदि मैं इसके आदि मध्य तथा अवसान में दिखा दूं तो आपको निश्चय हो जायगा कि सन्तान के उत्कृष्ट बनाने के साधनों का ही इसमें वर्णन है। किन्तु आगे बढ़ने से पहिले मैं इन नाटकोंकी कुछ बिचित्रताओं की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूं। इन नाटकों में जो देखने में मुख्य कार्य्यकर्ता प्रतीत होते हैं वह वस्तुतः मुख्य श्रोता हैं वह जो वाक्य स्वयं बोलते हैं वह भी अपने आपको सुनाते हैं। बहुधा वह स्वयं नहीं बोलते किन्तु यज्ञमात्र अध्वर्यु मुखेन बोलते हैं। यही नहीं बहुत स्थानों पर तो क्रियाएं बोलती हैं। एक पदार्थ को उठा कर एक दूसरे पदार्थ से निश्चित दूरी पर रख दिया बस यह क्रिया भी एक मर्म रखती है जिस प्रकार आरम्भ में ही प्रणीतासादन विधि में। यह विधि क्या है इस की व्याख्या आगे होजायेगी इस लिये यहां नहीं करता।

अस्तु अब प्रकृत का अनुसरण करता हूं। पौर्णमास उत्तम पुरुष को बनाने के लिये सन्तान को आरम्भ से लेकर किन अवस्थाओं में से गुजारना पड़ता है किस किस समय

माता पिता का क्या कर्तव्य है आदर्श ब्राह्मण क्षत्रिय के क्या गुण होते हैं यही इसमें उपदेश है। अच्छा अब प्रमाण लीजिये।

ता उत्तरेणाहवनीयं सादयति योषा वा आपो वृषाग्निर्मिथुनेमेवैतत् प्रजनं क्रियते (का. १ अ. १ ब्रा. १ क. २०)।

प्रणीता "आपः" (जले) को आहवनीय के उत्तर में स्थापित करता है क्योंकि अग्नि वृषा है आपः योषा हैं। और इस जोड़े से ही प्रजनन होता है। यह लीजिये प्रजनन आरम्भ हुआ। इसका नाम पौर्णमास भी है। पूर्णमासी का पक्ष चन्द्रमा का उदय का पक्ष है चन्द्र नाम सन्तान का है यह मैं पहिले व्याख्यान में दिखा चुका हूं। उसके उदय का मार्ग इस यज्ञ में बताया जायगा।

स बै कपालान्येवान्यतर उपदधाति। दृषदुपन्ने ऽन्यतर स्तद्वाऽएतदुभयं सह क्रियत तद्येतदुभयं सह क्रियते ॥ १ ॥ शिरोहवाऽएतद्यज्ञस्य यत् पुरोडाशः स यान्येवेमानि शीर्ष्णं कपालान्येतान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एष पिष्टानि तद्वाऽएतदेकमङ्ग-मेक सह करवाव समानं करवावेति तस्माद्वाऽएत-दुभयं सह क्रियते ॥ २ ॥ (का. १ अ. २ ब्रा. ५ क. १—२)

यजमान की हवि पीस कर जो पुरोडाश बनाया जाता

है वह कपालों पर रक्खा जाता है। उस प्रसङ्ग में यहां कहा है कि कपाल सिर के कपाल हैं और मस्तिष्क हैं।

यदाश्रृतोऽथाभिवासयत्यथ
सोऽभिवासयति अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमान-स्य प्रजा भूयात्। (का. १ अ. १ ब्रा. ६ क. १६)

जब पुरोडाश पक जाता है तो उसे भस्म से ढकते हैं। सो ढकते समय मंत्र पढ़ते हैं। अप्रमादी यज्ञ हो अप्रमादी यजमान भी प्रजा।

स्पष्ट है कि पुरोडाश यजमानकी प्रजा का प्रतिनिधि है। यज्ञ समाप्ति पर लीजिये।

अप पुत्रस्य नाम गृह्णाति इदं मे वीर्यं पुत्रोऽप्र-सन्न न वदिति यदि पुत्रो न स्यादप्यात्मन एव गृह्णीयात् [का. १ अ. ९ ब्रा. ४ क. २१]

इसे मेरे वीर्य्य को पुत्र मेरे पीछे जारी रक्खे ऐसा कहते समय पुत्र का नाम लिया जाता है।

जब तक पुत्र न हो तब तक अपना ही नाम ले क्योंकि उस के संस्कार से ही पुत्र बनेगा परन्तु यह याद रहे अपना नाम तभी तक है जब तक पुत्र नहीं। इससे पता लगा कि इस नाटक का अक्ष पुत्र है।

उत्तम सन्तान के सम्पादन के लिये परस्पर विरोधी शक्तियों के समञ्जस भावेन एक समावेश की आवश्यकता है।

उत्तम मस्तिष्क के लिये भी इसकी आवश्यकता है। उत्तम शरीर के लिये भी मस्तिष्क के प्रतिनिधि पुरोडाश में घृत तथा जल सोम के तथा अग्नि का प्रतिनिधि रक्खा गया है इस यज्ञ के यही दो मुख्य देवता हैं।

द्वय वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्य पथ यदिदं द्वयमेवाप्य किमेतावत्क्रियतऽइत्यग्नी षोमयोरेवाज्य भागावग्नीषोमयोरुपांशुयाजो ऽग्नीषोमयोः पुरोडाशो यदत एकतमेनैवेदं सर्वमाप्नोत्यथ किमेतावत्क्रियतेऽइत्याग्निषोमयोर्हैवैतावती विभूतिः प्रजातिः (का. १ अ. ६ ब्रा. २ क. २३)।

संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं एक आर्द्र एक शुष्क जो शुष्क हैं वह आग्नेय हैं जो आर्द्र है वह सौम्य हैं। जब यह दो ही के विषय में पक्ष हैं तो फिर यह वार आवृत्ति क्यों अग्निषोम के नाम पर ही आग्य भाग इन के नाम ही उपांशु याज इन के नाम पर ही पुरोडाश इन में से किसी एक क्रिया से ही सब का कार्य सिद्ध हो जाता इतना आडम्बर क्यों। इस का उत्तर यह है कि सब विभूति यह सब प्रजा अग्निषोम की है इस लिये यहां भी उन का विस्तार दिखलाया गया है।

इसी भाव को कवि ने प्रतिध्वनित किया है—

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
७, ८, ४८४ ।

सुश्रत में भी इसी की पुष्टि की है।

इस प्रकार इस भाव को मुख्यता तथा अन्य उत्कृष्ट पुरुष के सम्पादन में सहकारी भावों को नाटक रूप में परिणत करके पौर्णमास यज्ञ बनाया गया जिस का शतपथ के प्रथम काण्ड में वर्णन किया है।

काण्ड का विश्लेषण

इस काण्ड में जल, अनशन, पात्री, गृह, शकट, व्रीहि, उलूखल, मुसल, दृषद्, उपल, शूर्प शग्निहोत्र हवणी शम्या कृष्णाजिन, स्फ्य, कपाल, पवित्रा, अङ्गार, आज्य, रज्जु, परिधि, पूर्णपात्र, तृण, गार्हपत्य आहवनीय, सामिधेनी जुहू, उपभृत, ध्रुवा ३१ पात्रों का और पर्णशाला, वत्स, गाय, यवागू, उखा, दोह पात्र, पिधान पात्र, दर्श के समान मिलाने से ४० पात्रों का वर्णन है।

दश पूर्णमास प्रकाश में दर्शेष्टि और अग्नि मन्थन का सामान मिल कर ४३ दिये हैं।

इन दोनों में कपालों को तथा ११ समिधेनियों को एक ही गिना है।

मुख्य श्रोता { यजमान, यज्ञपात्री, पुत्र

अन्य लोग सामान्य श्रोता

ऋत्विज् { अध्वर्यु, होता, अग्नीत, ब्रह्मा ऋत्विज् हैं

३६१ विधि वाक्य हैं।

३७ गाथा हैं।

रूप रेखा

इस विश्लेषण के पीछे अब मैं आपको इस यज्ञ की रूप रेखा देना चाहता हूं. यह यज्ञ मुख्य ६ भागों में बटा हुआ है।

१. मानसिक तैयारी
२. सामग्री सम्पादन
३. अग्नि समिन्धन
४. प्रधान आहुतियां
५. स्रग्व्यूहन
६. आशीः प्रार्थन
७. पत्नी संयाज ४ सोमत्वष्टा
देवपत्नी गृहपति

८. समिस यजुः
९. उपसंहार

इन में अग्नि समिन्धन में आदर्श ब्राह्मण बताया गया है इसका प्रमाण.

समिन्धन विधि का उपसंहार इस प्रकार से होता है—
अग्ने महां, २॥ असि ब्राह्मण भारतेति ब्रह्मह्यग्निः तस्मादाह ब्राह्मणेति भारतेत्येष हि, देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भरतो ऽग्निरित्याहुरेष उ वा इमाहि प्रजाः प्राणो भूत्वा.बिभर्त्ति तस्मा-द्वेदाहं भारतेति (का १ अ. ४ ब्रा ४ क २)

अग्ने ! तू महान् हैं। ब्राह्मण है। तू भारत है। सो क्यों कि अग्नि ब्राह्मण है इस लिए उसे ब्राह्मण कहा और भारत यह इस लिए कि यह देवों को हव्य पहुंचाता है, इसी लिए अग्नि भरत है ऐसा कहते हैं। यह ही प्रजा को प्राण होकर भरण करता है। इसी लिये कहा भारत है।

जिस प्रकार अग्नि पदार्थों को सूक्ष्म विभाग करके प्राण होकर वायु को शुद्ध करके इस प्रजा का कल्याण करता है भरण करता है इसी लिये कहा उसी प्रकार ब्राह्मण भी गहन विषयों को सुविभक्त करके प्रजा को देता है इसी लिये वह भारत है। इसी लिये अग्नि ब्राह्मण का प्रतिनिधि बनाया गया है। अग्नि समिन्धन में जो ११ ऋचा पढ़ी जाती हैं उनमें ब्राह्मण का नख शिख वर्णन किया गया है। नायिकाओं का नख शिख

पढ़ कर पके हुए वीर रस पिपासु रसिकों की रसाभिलाषा प्रथम काण्ड के भाष्य में यथा समय निवृत्त की जायगी। यहां तो केवल इतना दिखाना है कि इस विधि में आदर्श ब्राह्मण बताया गया है तो एक और प्रमाण लीजिये।

शतपथ स्वयं बताता है कि सामिधेनीसमिन्धन विधि क्यों की जाती है।

योहवा अग्निः सामिधेनिभिः सभिद्धः अतितराँ हवै स इतरस्मादग्नेर्भवति अनवधृष्यो भवत्यनवभृश्यः। स यथा हैवाग्निः सामिधेनीभिः समिद्धस्तयत्येवं हैव ब्राह्मणः सामिधेनीभिर्विद्वाननुब्रुवं स्तपत्यनव धृष्योभवत्यनवमृश्यः। (का १ अ० ४ ब्रा ५ क १–२)

जो अग्नि समिधेनियों से प्रदीप्त होता है वह साधारण अग्नि अधिक से चढ़ बढ़ कर होता है उसका कोई घर्षण मर्षण नहीं कर सकता। सो जैसे सामिधेनी से प्रदीप्त अग्नि प्रतापी होता है इसी प्रकार सामिधेनियों से शास्त्र मार्गोपदेशक विद्वान् प्रतापी होता है उसे कोई दबा नहीं सकता कोई दिमाग नहीं लगा सकता।

इन आहुतियों में जो प्रयाज भाग है पक्ष क्षत्रिय धर्म का उपदेशक है। इस का प्रमाण लीजिये

यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत् तत् एवनाप

क्रामेत् संग्रामो वा एष सन्निधीयतेयः प्रयाजैर्यजते यतरो वै संयतयो, पराजयतेऽपवै संग्रामत्यभितरा मुवैजयन् क्रामति तस्मादमितरामेव क्रोमद् मितरामाहुतीर्जुहुयात्। तदु तथा न कुर्यात् यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्तत एव नापक्रामेद्यन्नो एव समिद्धतमं मन्यते तदाहुतीर्जुहयात्। का. १ अ. ब्रा. क. ६–७

जहां खड़े होकर प्रयाज की आश्रावण विधि की जाती है वहां से पीछे नहीं हटना चाहिये क्यों कि यह जो प्रयाजाहुतियों से यज्ञ करता है वह वस्तुतः संग्राम पेश किया जा रहा है सो लड़ने वालों में जो हार जाता है वह भाग जाता है और जो गिरता है वह आगे ही आगे बढ़ता जाता है इसलिये आगे २ बढ़ता हुआ आहुति करे परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये। जिस स्थान से खड़ा होकर आश्रावण विधि करे वहां से पीछे न हटे यहां तक तो ठीक है परन्तु आहुति वहां करनी चाहिये जहां अग्नि प्रदीप्त हो।

आश्रावण विधितो युद्ध में विजय संकल्प में स्थिरता की प्रतिनिधि है यह तो ठीक है किन्तु आगे बढ़ना यह कोई बुद्धिमत्ता नहीं। युद्ध में इस प्रकार का कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। जहां सब से अधिक आवश्यकता हो वहीं आहुति दे। हा हन्त शिवाजी की भांति राजपूतों को भी

किसी ने यह शतपथ का मर्म समझाया होता समझाता कौन याज्ञवल्क्य के निधिगम्य ब्राह्मण तो लम्बो तान कर सो रहेथे।

इड़ाहुति

यह वैश्य आहुति है—प्रमाण

अथेडा अन्नाद्यमेवैतया (५५२ ११ काण्ड)
यशवो वै इडा (का० १ अ० ८ ब्रा० ३ क० २०)

इडा नाम पशु का है।

अथेडा अन्नाद्यमेवैतया देवा अजयंस्तथो एतयाद्यमेव जयत्येषानुदेवतादर्शपूर्णमासयोः सम्पत्। क० ११ अ० १ बा० ६ क० २८।

अब पत्नी संयाज का रहस्य वर्णन करने के पीछे इडा का वर्णन करते हैं इडा के द्वारा देवीने अन्न भोजन को जीता सो उसी प्रकार यजमान इस से अन्नाद्य को जीतता है यह देव लोगों में दर्श पूर्णमास की विभूति हैं इस प्रकार आपने देखा कि इस यज्ञ में सामान्य यज्ञ होने के कारण तीनों वर्णों के आदर्श वर्णित हैं। सन्तान की श्रेष्ठताके लिये सामान्य सिद्धान्त वर्णित हैं। स्त्री शिक्षा सम्बन्धी नियम जिन अंशों में वह पुरुषों से विशेष हैं

वेदि तथा पत्नी सयाज के प्रकरण में दिए हैं। तथा जो स्त्री पुरुष के सामान्य नियम हैं वह याजमान प्रकरण में दिए हैं शेष रहा बालक उसके सम्बन्ध में तो यह यज्ञ ही है । इस प्रकार मैंने इस यज्ञ की रूप रेखा आप के सामने उपस्थित कर दी है अब मैं आरामसे इसकी व्याख्या आपके सामने उपस्थित करता हूं।